ब्रह्मचर्य के पांच आचार्य

"उमेश" चतुर्वेदी

ओ३म्

ब्रह्मचर्य के पाँच आचार्य

लेखक—

कविरत्न श्री "उमेश" चतुर्वेदी साहित्यभूषण

भूमिका लेखक

श्री पं० प्रेमशरण 'प्रणत'

प्रकाशक—

पुस्तक भण्डार 'जयपुर'

मूल्य आठ आना

प्रकाशक
युगलकिशोर
पुस्तक भण्डार जयपुर

मुद्रक
बा० दुर्गाप्रसाद
सुपरवाइजिंग डायरेक्टर
म० दी० आर्य भास्कर प्रेस, आगरा

दो शब्द

मानव शरीर कई प्रकार के विभिन्न तत्वों का संघात है। पंचभूतों के अतिरिक्त अन्य धातु उपधातु और हैं जिनका आधार मानव शरीर है और वे हैं रक्त, रस, मज्जा, वीर्य आदि जब तक इन सबका कार्य ठीक रूप से चलता है और प्रकृति के अनुकूल उसकी गति ठीक होती है तभी तक मानव शरीर स्वस्थ रहता है।

स्वस्थ शरीर संसार यात्रा के लिए ही नहीं प्रत्युत परमार्थ के लिए भी आवश्यक है और यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है कि धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में अर्थात् फल चतुष्टय की सिद्धि का साधन स्वस्थ शरीर है जैसा कि प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञों का आदेश है—

धर्मार्थ काम मोक्षाणां मूलमुत्तम कलेवरम्

इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वीर्य रक्षा की भारी आवश्यकता है। आधुनिक युग के निर्माताओं ने इसकी महती आवश्यकता आत्म कल्याण और परोपकार के लिए बताई है।

हमारे देश में तो हमारे पूर्वजों का भूषण ही ब्रह्मचर्य था और उसे वे इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धि का सर्वोपरि साधन समझते थे। यहां तक कि अनेक महापुरुष आजन्म ब्रह्मचर्य से जीवन व्यतीत करते हुए अपने ज्ञान विज्ञान को

पराकाष्ठा तक पहुँचा कर संसार के उपकार में लग जाते थे। ऐसे परोपकारी जितेन्द्रिय वीर महापुरुषों में से परशुराम, हनुमान, भीष्म, शंकर और दयानन्द के जीवन की कथाएं इस समय प्रत्येक घर में पहुँचाने के उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित कर जनता की सेवा करने का यह प्रयास सर्वथा श्लाघनीय और लाभदायक प्रतीत होता है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मचर्य्य का अभाव देश की दासता का एक प्रमुख कारण वतलाया है और इस अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में स्थान स्थान पर उपदेश किया है। गुरुकुलों और बालक बालिकाओं के विद्यालयों की स्थापना ब्रह्मचर्य्य प्रणाली की रक्षा के लिए आर्य्य पुरुषों ने की है। अतः हम चाहते हैं कि उनमें पढ़ने वाले बालक बालिकाओं को ऐसे ऐसे ब्रह्मचारी वीर पुरुषों की धार्मिक कथाएं पढ़ाई जानी चाहिये।

प्रेमनिवास
आगरा।

प्रेमशरण प्रणत

१

चूका कहीं न, हाथ, गले, काटता रहा।
पैना कुठार रक्त वसा चाटता रहा॥
भागे भगोड़े भीरु भिड़ा धीर न कोई।
मारे महीप वृन्द बचा वीर न कोई॥
सुप्रसिद्ध राम, जामदग्न्य, का कुदान है।
महिमा—अखंड ब्रह्मचर्य की महान है॥

ओ३म्

परशुराम

(१)

परशुराम कौन थे ? इनका नाम तो शायद ही कोई ऐसा होगा जिसने न सुना हो लेकिन इनकी जीवनी बहुत कम बालकों को मालूम है बालकों को परशुराम की जीवनी का एक २ शब्द ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्राचीन काल में आज से हजारों वर्ष पहले "जमदग्नि नामक एक ऋषि हो चुके हैं। वह जाति के ब्राह्मण थे। परन्तु उनका विवाह एक क्षत्रिय राजा की कन्या रेणुका से हुआ था। उस क्षत्रिय राजा का नाम प्रसेनजित था। उस जमाने में ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय कुमारी से हो जाना अचरज की बात नहीं थी। उन दिनों यह प्रथा प्रचलित थी। शास्त्रों के अनुसार भी ब्राह्मणों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों में विवाह करने का अधिकार था।

जिस प्रकार ऋषि मुनि रहते हैं उसी प्रकार जमदग्नि रेणुका के साथ वन में एक सुन्दर आश्रम में रहा करते थे। वहीं इनके पाँच पुत्र हुये जिनमें से सबसे छोटे का नाम "राम" था। यूं तो माता पिता को सभी पुत्र समान ही प्यारे होते हैं लेकिन यह एक स्वाभाविक ही बात होती है कि सबसे छोटे पुत्र पर माता पिता को अधिक प्रेम होता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं

यदि "राम" पर भी जमदग्नि और रेणुका का प्रेम अधिक था।

"राम" अपने माता पिता के ही प्यारे नहीं थे बल्कि जो कोई उनको देखता था वही उनसे प्रेम करने लगता था। राम का रूप बड़ा सुन्दर था। बड़ी बड़ी बादाम सी आखें, कंवल के फूल जैसा मुख, गोरा रंग सुडौल शरीर हर एक को मोह लेता था।

केवल रूप ही नहीं गुणों में भी वह अद्वितीय थे। पिता का भक्त तो शायद ही कोई उनके समान हुआ हो। वह अपने माता पिता के साथ साथ अपने बड़े भाइयों का भी बड़ा आदर करते। बचपन में पाँचों भाई साथ साथ ही खेला करते थे।

खेलते खेलते आश्रम के बाहर कुछ दूर निकल जाते और कभी २ तो संध्या का समय हो जाता था। राम को अपने माता पिता के अप्रसन्न होने का फौरन ही ख्याल आ जाता था जिस काम से पिता अप्रसन्न होते उसको वह कभी नहीं करते थे। बचपन में बालक चंचल तो हुआ ही करते हैं और उत्पाती भी होते हैं। राम भी चंचल और उत्पाती थे लेकिन ऐसे नहीं जिससे किसी को हानि पहुंचे। और माता पिता नाराज हो जायें। वह बचपन से ही बड़े वीर साहसी और पराक्रमी थे। यह गुण उनके भाइयों में नहीं पाये जाते थे। अंधेरी रात में भयानक वन में जाने आने से उनको कभी भय नहीं मालूम होता था। उनको वीरता के काम करने में बड़ा आनन्द आता था। लड़ाई के लिये उनकी भुजायें हमेशा फड़का करती थीं। यह सब उनकी वीर माता (क्षत्राणी) के उपदेशों का प्रभाव था।

माता रेणुका उन्हें शेखचिल्ली वगैरा की व्यर्थ कहानियाँ नहीं सुनाया करती थीं जैसा कि आजकल मूर्ख अशिक्षित

मातायें किया करती हैं। वह उन्हें सदैव ज्ञान का उपदेश देती थीं। वीरों की कहानियां सुनाती थीं। ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन करने का आदेश दिया करती थीं माता पिता स्वयम् भी जानते थे कि उनका पुत्र राम किसी दिन बड़ा वीर पराक्रमी और प्रतिभा-शाली मनुष्य होगा। क्योंकि उसके लक्षणों से ही ऐसा मालूम होता था। पूत के पैर पालने में ही दिखाई दे जाते हैं। ऐसी। आशा उनको अपने अन्य पुत्रों से नहीं थी। बस यही कारण था कि सबसे अधिक वह दोनों राम को ही चाहते थे। वह राम का पूरा ध्यान रखते थे उन्होंने शिक्षा का भी पूरा पूरा प्रबन्ध कर दिया था।

जब राम कुछ बड़े हुये तो कुछ दिनों बाद ही यथा समय उनका उपनयन संस्कार (जनेऊ) भी कर दिया गया। अब उनका शैशवकाल समाप्त हो चुका था। इसलिये अब वह पढ़ने लिखने में मन लगाने लगे। दिमाग़ भी अच्छा था। बुद्धि भी तेज़ थी। खूब पढ़ने लगे। पढ़ाई का असर भी इनपर खूब पड़ा। जैसी शिक्षा दी जाती थी वैसा ही करते थे। यही तो कारण था कि वह जल्दी ही पढ़ लिखकर होश्यार हो गये। और अपने सब भाइयों से आगे निकल गये।

लेकिन इतना होने पर भी इनको अभिमान नहीं हुआ। वह उसी तरह रहते थे जैसे कि पहले। वही पहले की तरह भाइयों का आदर और माता पिता की सेवा सब करते थे।

इनके चहरे पर ब्रह्मचर्य्य का तेज था जिससे हमेशा इनका मुखमंडल तपे हुये सोने की तरह दमकता रहता था। किसी को इनकी ओर आँख उठाने की भी हिम्मत नहीं होती थी। वास्तव में ब्रह्मचर्य्य के बल से ही इन्होंने कैसे कैसे वीरता के काम किये थे जिनको सुनकर आश्चर्य होता है और हृदय राम की प्रशंसा

किये विना नहीं मानता। वही काम अव हम आगे लिख रहे हैं

हाँ, एक बात हम यहां और भी कह देना उचित समझते हैं। वह यह कि हम अव राम को परशुराम ही लिखेंगे क्योंकि इनका नाम परशुराम ही पड़ गया था। कारण यह था कि वह हमेशा अपने हाथों में परशु (छोटी कुल्हाड़ी–फरसा) रक्खा करते थे। इस लिये लोगों ने इन्हें परशुराम कहना शुरू कर दिया।

(२)

परशुराम में वह सभी गुण मौजूद थे जो कि एक अच्छे सुशील बालक में होने चाहिये। वह अपने माता पिता की आज्ञा पालन करना अपना परमधर्म समझते थे। वह ऐसा कोई काम नहीं करते थे जिससे माता पिता अप्रसन्न हों।

एक दिन की बात है जमदग्नि ऋषि यज्ञ करने के लिये बैठे। उस समय वहाँ जल नहीं था। जमदग्नि ने रेणुका को नदी से जल लाने के लिये भेजा क्योंकि उस समय वहाँ कोई बालक नहीं था। रेणुका अपने पति की आज्ञा मानकर उसी समय नदी की ओर चलदी उस समय जमदग्नि ने यज्ञ करना शुरू कर दिया था क्योंकि उन्होंने सोचा कि यज्ञ समाप्त होने से पहले ही रेणुका जल लेकर आ जायेगी नदी पास ही तो है।

लेकिन भाग्य की बात। होनी तो होकर ही रहती है। परमात्मा को न जाने वहाँ क्या लीला रचानी थी। रेणुका को जल लाने में देर हो गई। जमदग्नि यज्ञ समाप्त कर चुके लेकिन वह जल लेकर ही नहीं आई यह देखकर उनको बड़ा क्रोध आया उनकी आज्ञा में इतनी देर क्यों हुई ?

प्राचीन काल में ब्राह्मणों के क्रोध से बड़े बड़े शूरवीर राजा महाराजा भी कांपा करते थे। प्रथम तो उनको क्रोध आता ही

नहीं था और यदि आ जाता तो उसको शान्त करना या उससे बचना बड़ा मुश्किल हो जाता था। यही कारण था कि सब लोग ब्राह्मणों से डरा करते थे। और कभी उनको अप्रसन्न नहीं होने देते थे।

जब साधारण ब्राह्मणों का ही यह हाल था तो जमदग्नि के तो कहने ही क्या ? वह तो ऋषि थे और ऋषियों में भी माने हुये और पूज्य !

बस जमदग्नि के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसी समय सब बालक भी वहाँ आ गये। पिता का भयानक रूप देखकर सब डरने लगे और चुपचाप अपनी अपनी जगह बैठ गये।

जमदग्नि अपने पुत्रों को रेणुका को बुलाने के लिये भेजने ही वाले थे कि वह वहाँ आपहुंची वह अपने पति की मुद्रा देख कर समझ गई कि आज कुशल नहीं है। वह जल लेकर पति के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। जमदग्नि को इतना क्रोध आरहा था कि वह रेणु से बोल भी न सके केवल तेज नजर से देखकर ही रह गये। रेणुका जल का पात्र वहां रख कर अन्दर चली गई।

जमदग्नि ने अपने सब पुत्रों को बुलाया और उनमें से सबसे बड़े से कहने लगे "बेटा। मैं आज तुम्हें एक बड़ी भयानक आज्ञा देना चाहता हूँ। क्या तुम उसका पालन कर सकोगे ?

पुत्र ने कहा "पिताजी। कहिये। वह कौनसी आज्ञा है ?

जमदग्नि बोले "जाओ। अपनी माता रेणुका का सिर काट लाओ।"

अब तो सब बालकों के होश उड़ गये। किसी के मुँह से बोल भी नहीं निकला। सब चुपचाप ही खड़े रहे।

जमदग्नि ने दूसरे पुत्र से भी यही प्रश्न किया और उसको यही आज्ञा दी किन्तु वह भी इस आज्ञा का पालन नहीं कर सका। जब कि चारों पुत्र इस कठोर आज्ञा को पालन नहीं कर सके तो। उन्होंने परशुराम से कहा "बेटा! यह सब तो कायर हैं लेकिन मुझे तुम्हारा बड़ा भरोसा है। बोलो क्या तुम इस काम को कर सकोगे?

परशुराम ने कहा "पिताजी आपकी आज्ञा होने पर मैं क्या नहीं कर सकता? परन्तु माताजी का ऐसा क्या अपराध है"......

परशुराम पूरा वाक्य कह भी न पाये थे कि जमदग्नि गरज कर बोले "बस मैं समझ गया कि तू भी कायर है"।

परशुराम ने कहा "नहीं नहीं पिताजी मैं कायर नहीं हूं मैं अभी जाकर आपकी आज्ञा का पालन करता हूँ यह कहकर परशु-राम जी जाने लगे किन्तु उसी समय जमदग्नि ने फिर कहा "लेकिन ठहरो। अब तुम्हें अपनी माता का ही नहीं अपने चारों बड़े भाइयों का सिर भी काट कर लाना होगा।"

परशुराम जी यह सुनकर चकित हो गये लेकिन पिता की आज्ञा तो माननी ही थी। बस परशा उठा कर चल दिये और कुछ क्षणों में ही अपनी माता और अपने चारों बड़े भाइयों के सिर काट कर ले आये पाँचों सिरों को अपने पिता के चरणों में रखकर वह हाथ जोड़े हुये अपने पिता के सामने खड़े हो गये। उस समय उनकी आँखें पृथ्वी की ओर थीं।

जमदग्नि पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। क्रोध ऐसा ही होता है। यह एक राक्षस की तरह है। क्रोध आने पर मनुष्य को कुछ उचित अनुचित का विचार नहीं रहता। यह मनुष्य को अन्धा बना देता है। जब क्रोध का भूत सिर से उतरता है उस समय

मनुष्य रोता पछिताता है इसलिये इस बला से सदा दूर ही रहना चाहिये।

यही हाल जमदग्नि का भी हुआ। वह पहले तो क्रोध में ऐसी विकट आज्ञा दे बैठे लेकिन फिर अपने किये पर ही पछि-ताने लगे। अब उनकी आँखें खुलीं।

सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि उनको परशुराम जी पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनको इतना विश्वास नहीं था जैसा कि हो गया। वह जानते थे कि परशुरामजी पितृ-भक्त हैं लेकिन वह आज्ञा पाकर माता का सिर भी काट सकते हैं यह नहीं जानते थे। उनका हृदय प्रेम से भर आया और उन्होंने परशुराम जी की ओर देखा।

परशुरामजी उस समय माता के मस्तक की ओर एकटक देख रहे थे। जमदग्नि ने कहा "बेटा। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा आर्शीवाद है कि किसी दिन तुम महान वीर कहलाकर संसार में प्रसिद्ध हो जाओगे। बोलो तुम क्या चाहते हो ? कोई वरदान मांगो।"

परशुरामजी ने कहा "पिताजी। यदि आप मुझपर ऐसे खुश हैं तो मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरी माता और मेरे बड़े भाई सब जीवित हो उठे।"

बड़ा कठिन प्रश्न था। कहीं मरे हुये भी जिन्दा होते हैं ? लेकिन जमदग्नि वचन दे चुके थे। जमदग्नि यह सुनकर और भी अधिक प्रसन्न हुये यह सोच कर कि इसने अपने लिये कोई वरदान नहीं मांगा अपनी माता और अपने भाइयों का जीवन ही मांगा है।

जमदग्नि ने अपने योग और तपोबल के प्रभाव से सबको जीवित कर दिया। परशुराम ने वरदान मांगते समय यह भी कह दिया था कि जीवित होने पर या उसके बाद भी उनको यह हाल याद न रहे। ऐसा ही हुआ। वह सब ऐसे उठे जैसे कि कोई सोकर उठा हो। उन्हें अपने सिर कट जाने का हाल मालूम ही नहीं था।

यहां पाठकों को अवश्य शंका होगी कि वह मरे हुये फिर कैसे जीवित हो गये। हां आजकल ऐसी शंका हो सकती है क्योंकि चिराग लेकर ढूंढने पर भी हमें यहां ऐसा मनुष्य नहीं मिलता जो सच्चा योगी और तपस्वी हो। योग और तप से ऐसा होना असंभव नहीं। या यूं भी समझना चाहिये कि उनके जीवन के दिन अभी शेष थे।

वास्तव में यदि देखा जाये तो बात यह थी कि परशुराम के लिये यह एक कठोर परीक्षा थी जिसमें वह पूरी तरह सफल हुये।

(३)

ना अभी परशुराम के जीवन की एक ही ऐसी घटना हुई है जिसने पाठकों को आश्चर्य में डाल दिया होगा। परशुराम के उन्नत काल की यह पहली सीढ़ी थी। अब आगे सुनिये।

एक दिन का जिक्र है कि जहां यह लोग रहा करते थे वहीं उसी वन में एक क्षत्रिय राजा जिसका नाम कार्तवीर्य्य था शिकार खेलने के लिये आया हुआ था। कार्तवीर्य्य का दूसरा नाम सहस्त्रार्जुन भी था और वह इसी नाम से प्रसिद्ध भी था। शिकार खेल कर लौटते समय शाम हो गई इस लिये उसने कहीं विश्राम करना चाहा। पास ही जमदग्नि का आश्रम था। सहस्त्रार्जुन अपने साथियों सहित वहीं पहुंचा। उस समय परशुराम

और उनके चारों भाई आदर गये हुये थे। जमदग्नि ने राजा का स्वागत किया और बड़े आदर से उन्हें स्थान दिया। सहस्त्रार्जुन उस जमाने में बड़ा प्रतापी राजा था बड़े बड़े राजा महाराजा उसके नाम से कांपते थे। क्योंकि वह बड़ा वीर पराक्रमी था। इसी कारण उसको अभिमान भी होगया था।

जमदग्नि ने उन लोगों का सत्कार करने में कोई कमी न रक्खी जमदग्नि के पास कामधेनु गाय थी वह गाय बड़ी सुन्दर और स्वस्थ थी। उसका दूध भी इतना स्वादिष्ट होता था कि संसार में शायद ही किसी गाय का ऐसा दूध होता हो। सब से बड़ी तारीफ की बात यह थी कि आवश्यकता पड़ने पर वह उतना ही दूध दे सकती थी जितने कि जरूरत हो। इस समय भी उसने इतना दूध दिया कि उन लोगों से पिया भी न गया।

सहस्त्रार्जुन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी नजर भी गाय पर पड़ गई। बस फौरन मन बदल गया उसने जमदग्नि से वह गाय मांगी। लेकिन जमदग्नि का तो निर्वाह ही उसके द्वारा होता था। सहस्त्रार्जुन के कई बार मांगने पर भी उन्होंने गाय नहीं दी।

सहस्त्रार्जुन को बड़ा क्रोध आया। वह जबरदस्ती ही उस गाय को लेकर वहाँ से चल दिया। जमदग्नि कर ही क्या सकते थे। चुप चाप उदास होकर बैठ गये।

उसी समय वहां परशुराम अपने भाइयों सहित आ पहुंचे। माता पिता को उदास देख कर बोले "क्या कारण है आप आज उदास बैठे हुये हैं।" माता पिता ने उसी समय अपनी उदासी का कारण कह सुनाया। सुनते ही परशुराम जी क्रोध से अधीर हो उठे और कहने लगे "बस इतनी सी बात के लिये ही आप

उदास होगये हैं। चिन्ता न करिये जब तक आपका पुत्र राम जीवित है कोई चूं भी नहीं कर सकता। मैं अभी जाकर उस अभिमानी राजा की गरमी उतारता हूँ और गाय को वापस लाता हूं।"

यह कहकर परशुराम जी क्रोधावेश में उसी समय वहां से चल दिये और रास्ते में ही जाते हुये उन लोगों को पकड़ लिया। परशुराम को क्रोध में आता हुआ देखकर वह लोग भी लड़ने को तैय्यार हो गये। बस युद्ध छिड़ गया। लेकिन वाहरे वीर अकेले ने ही सब को नाक में दम कर दिया। सब भाग गये। सहस्रार्जुन का सिर परशुराम जी ने काट लिया और गाय को लेकर अपने घर लौट आये सहस्रार्जुन का कटा हुआ सिर भी वह अपने साथ ही लेते आये थे।

धन्य! धन्य!! वीर!!! आओ और अपने इस प्यारे भारत देश के बालकों को भी ऐसा ही वीर बनादो जिससे कि वह अपनी प्यारी गायों की रक्षा कर सकें।

परशुराम जी ने सहस्रार्जुन का कटा हुआ सिर अपने पिता के चरणों में रखते हुए कहा "पिता जी लीजिये यह उसी दुष्ट का सिर है जिसने आपसे गाय छीन ली थी। गाय भी बिल्कुल सुरक्षित आ पहुंची है।" परशुराम के मुख पर वीरता का तेज चमक रहा था। ब्रह्मचर्य्य से उनका मस्तक सोने की तरह दमक रहा था।

माता पिता गाय को देखकर बड़े प्रसन्न हुये और परशुराम की प्रशंसा करने लगे। माता पिता दोनों ने परशुराम को बड़े प्रेम से अपने हृदय से लगा लिया और वारम्वार उसका मस्तक चूमने लगे मानों ऐसा पुत्र पाकर वह अपने आप को बड़भागी समझ रहे थे और बात भी वास्तव में यही थी।

लेकिन सहस्त्रार्जुन का सिर देख कर वह प्रसन्न नहीं हुये । जमदग्नि ने कहा "वेटा। तुमने सहस्त्रार्जुन को मार कर अच्छा काम नहीं किया सहस्त्रार्जुन क्षत्रिय था और तुम ब्राह्मण हो। ब्राह्मणों को तो क्षत्रियों पर दया भाव ही रखना चाहिये । यह माना कि वह अपराधी था किन्तु तो भी वह राजा था । यदि उसको दंड ही देना था तो क्षमा कर देते। यही ब्राह्मणों का धर्म है। क्षमा से वढ़कर दंड और कोई नहीं हो सकता । क्षमा और दया यही ब्राह्मणों का भूषण है। क्रोध करना ब्राह्मणो का कर्म नहीं। पुत्र ! तुमने आज घोर अनर्थ किया है जो कि पाप कहा जा सकता हैं। इंस लिये तुमको इसका प्रायश्चित करना पड़ेगा।

परशुराम सब कुछ सिर नीचा किये हुये सुन रहे थे उनको दुःख हो रहा था इसलिये नहीं कि उन्होंने अच्छा काम किया और पिता ने उन्हें फटकार दिया वल्कि इस लिये कि आज उनके कारण पिता को दुख हो रहा है। वह फौरन वोल उठे "पिताजी आज्ञा दीजिये कि मैं इसका प्रायश्चित किस प्रकार कर सकता हूं।"

जमदग्नि ने कहा "वेटा। तीर्थ यात्रा और तपस्या के द्वारा ही प्रायश्चित हो सकेगा।" परशुराम जी यह सुनकर उसी समय जाने को तैय्यार होगये। यद्यपि माता पिता को उनके विछोह का वहुत दुख हो रहा था लेकिन क्या करते विवशता थी। अन्ततः परशुरामजी घर से तीर्थ यात्रा करने के लिये चल दिये।

धन्य ! पितृभक्त !

उधर सहस्त्रार्जुन के पुत्र परशुराम पर दांत पीस रहे थे । उनके दिलों में वदला लेने को आग भड़क रही थी । वह किसी अच्छे मौके की तलाश में थे। जव उन्होंने परशुराम के चले जाने

की खबर सुनी तब तो वह बड़े खुश हुये । उन्होंने सोचा कि बदला लेने का इससे अच्छा मोका और कौनसा हो सकता है ।

बस ऐसा विचार करते ही वह सब मिल कर जमदग्नि के आश्रम की ओर चल दिये। जिस समय वह लोग पहुंचे उस समय जमदग्नि सन्ध्या कर रहे थे।

लेकिन उन लोगों पर क्रोध का भूत सवार था धर्म अधर्म का कुछ भी ख्याल नहीं किया; उचित अनुचित का विचार भी नहीं हुआ। रेणुका के कहने सुनने मना करने रोने पीटने का भी कुछ असर नहीं हुआ। उन्होंने ध्यानमग्न जमदग्नि ऋषि का सिर काट लिया। और रेणुका को रोती हुई विधवा के रूप में छोड़ गये।

आह ! कैसा करुणा जनक दृश्य था। जंगल का मानों पत्ता पत्ता रोरहा था। पशु पक्षी भी आंसू बहा रहे थे। पृथ्वी भी इस अधर्म कार्य के भार से दब कर कांप रही थी। वह हरा भरा जंगल जो नन्दनवन को भी लज्जित करता था। स्मशान के समान दिखाई दे रहा था। रेणुका के रोने की आवाज़ पत्थर को मोम के समान बना रही थी। उसकी चीखों से दिशायें गूंज रही थीं। हा ! वह असहाय अबला गाय की तरह डकरा रही थी।

घर का यही हाल हो रहा था कि परशुरामजी भी लौट कर आगये। वहां यह दृश्य देख कर तो उनके होश उड़ गये। फौरन मां के पास पहुँचे। माता रेणुका उनको देख कर और भी अधिक चीख २ कर रोने लगी। एक शब्द भी उसके मुख से न निकलता था। सिवाय रोने के मानों उसे कुछ आता ही न था। परशुराम जी समझ गये कि अवश्य कुछ दाल में काला है। पिता को वहां

न देख कर उनके मन में शंका होने लगी। वह माता को धीरज देते हुये रोने का कारण पूछने लगे।

बहुत कुछ पूछने पर माता रेणुका ने रोते हुये कहा "बेटा ! परशुराम ! मैं तेरे होते हुये लुट गई। मेरा सुहाग उजड़ गया। मेरे भाग्य का सूर्य अस्त हो गया। हाय ! मैं कहीं की न रही ! राम ! राम ! बेटा ! मैं विधवा हो गई !"

यह सुनते ही परशुराम चकित हो गये। पिता से उनको कितना प्रेम था और वह कितने पितृ भक्त थे यह पाठक पहले जान ही चुके हैं। इस समय उनकी क्या दशा हुई होगी इसका अनुमान स्वयम् पाठक ही लगा सकते हैं। वह मूर्छित होने को थे लेकिन सम्हल गये क्योंकि वह वीर थे वह धैर्य रखना जानते थे और समय पर घबड़ाना रोना पीटना उन्हें नहीं आता था। उन्हें फौरन क्रोध आगया और माता से पूछने लगे " माताजी। बताइये ! किस दुष्ट ने मेरे पिता का वध किया है ? मैं उसका समूल नाश कर डालूंगा।

रेणुका को भी अत्यन्त क्रोध आ रहा था। वह बोल उठी 'इन्हीं दुष्टों ने तेरे पिता का सिर काटा है जिनके पिता का तूने सिर काटा था। आह ! आज हम असहाय व्यक्तियों की कोई सहायता करने वाला नहीं। हमारा घर नाश हो गया हमारा फला फूला बाग उजड़ गया। बेटा राम ! यदि तू वीर है यदि तू रेणुका का पुत्र है यदि तू सच्चा ब्रह्मचारी है तो जा अपने शत्रुओं से बदला ले। मेरी आज्ञा है। तूने अब तक अपने पिताकी आज्ञा का पालन किया था किन्तु अब माता की भी इस आज्ञा का पालन कर। जा संसार को दिखादे कि वीर कैसे होते हैं ब्रह्मचर्य की कैसी अपार शक्ति है ? ब्राह्मण भी क्रोध आने पर क्या कर सकते हैं ?

यह कह कर फिर रेणुका फूट २ कर रो उठी किन्तु क्रोध से उस क्षत्राणी का शरीर जल रहा था। माता के ओजस्वी वचन सुन कर परशुरामजी भड़क उठे। उनके भुजदंड भी फड़क उठे। कहते हैं कि जिस समय माता रेणुका परशुराम को वीरता का उपदेश दे रही थी उस समय उसने अपनी छाती इक्कीसबार पीटी थी।

बस वीर परशुराम भी बोल उठे "माताजी! मैं जाता हूँ। जान रहे या जाये चिन्ता नहीं किन्तु उन दुष्टों का समूल नाश कर दूंगा। जिस प्रकार आपने दुःखत होकर इक्कीस बार छाती पीटी है उसी प्रकार मैं भी उनका इक्कीस बार ही नाश करूंगा। ओह क्षत्रिय राजाओं का इतना साहस! वह ब्राह्मणों को तुच्छ ही समझने लगे। बस अब मैं उन दुष्टों का ही नहीं समस्त क्षत्रियों का ही नाश करूंगा।" यह कहते हुये परशु-धारी-वीर राम अपना एक मात्र शस्त्र परशा लिये हुए क्रोधित होकर चल दिये। उनकी आंखों से क्रोध की चिनगारियां निकल रही थीं। उस समय वह साक्षात काल रूप हो रहे थे। वह सीधे सहस्रार्जुन की राजधानी महिष्मती पहुंचे। वहां जाकर उन्होंने तूफान मचा दिया। नगर में मानों प्रलय मच गई। सहस्रार्जुन के सब लड़कों को उन्होंने मार डाला। इतना ही नहीं उन्होंने "हैहय वंश" का ही नाश कर डाला। सहस्रार्जुन हैहय वंश का ही था। किन्तु तब भी उनका क्रोध शान्त न हुआ वह बराबर क्षत्रियों का नाश करते ही जाते थे। उन्हें क्षत्रिय जाति से ही घृणा पैदा हो गई थी। कहते हैं कि बहुत से क्षत्रिय अपनी जान बचाने के लिये ब्राह्मण वेष धारी बन गये थे।

परशुरामजी का सर्वत्र आतंक छा गया। क्षत्रिय तो उनको देखते ही कांप उठते थे। उनके नाम मात्र को सुन कर लोग दहल

जाते थे। परशुराम ने अपना वचन पूरा कर दिया। उन्होंने इक्कीस बार ही क्षत्रियों का नाश किया। ऐसा मालूम होता था कि क्षत्रिय अब संसार में रहेंगे ही नहीं। ऐसा ही हुआ भी नाम मात्र को क्षत्रिय रह गये थे। जो बच कर या छुप कर या वेष बदल कर बच गये वह तो बच ही गये वरना उनके पंजे से तो कोई भी नहीं बचा। हां जो लोग वहां से दूर बसते थे उन पर यह आफत नहीं आने पाई।

अस्तु! हमें इस से मतलब नहीं कि कितने मरे और कितने जिन्दा रहे। हमें तो यहां परशुरामजी की वीरता और उनका ब्रह्मचर्य-प्रताप देखना है। और वह स्पष्ट ही है।

परशुरामजी ने क्षत्रियों को मार २ कर उनके खून से "समन्त पञ्चक" देश में नौ कुंड भरे थे। इस से साफ मालूम होता है कि कितना शोणित बहा। धन्य! वीर! एक अकेले का इतना साहस और असीम बल।

क्षत्रियों का नाश करके जब वह घर लौटे तो उन्हें अपने पिता को जीवित करने की चिन्ता हुई। उन्होंने अनुष्ठान शुरू किया। अत्यन्त कठोर अनुष्ठान कर चुकने पर उन्होंने अपने पिता को जीवित कर लिया। जमदग्नि ऋषि-मण्डल में जाकर रहने लगे। और सप्तर्षियों में से एक वह भी कहलाने लगे।

परशुरामजी को भी संसार से वैराग्य हो गया था। उन्होंने संसार को बिल्कुल ही छोड़ देने का निश्चय कर लिया। वह आ-जन्म ब्रह्मचारी ही रहना चाहते थे। इस लिये वह महेन्द्र पर्वत पर जाकर रहने लगे और वहीं सदैव रहे भी। महेन्द्र पर्वत अब भी है। भारत के सात प्रसिद्ध पर्वतों में इसका भी नाम है। यह एक ओर तो उड़ीसा से गोंडवाना तक फैला हुआ है और दूसरी

ओर उत्तरी भारत से मिला है। गन्जाम के पास जो पहाड़ों की श्रेणी है वहां के रहने वाले तो उस श्रेणी को महेन्द्र पर्वत की ही श्रेणी कहते हैं। महेन्द्र पर्वत का दूसरा नाम महेन्द्राचल भी है।

लोग कहते हैं कि परशुरामजी अभी तक जीवित हैं और महेन्द्राचल पर ही रहते हैं। आगे के मन्वन्तर में वह वेद का प्रचार करेंगे। नहीं कहा जा सकता कि यह कहां तक ठीक है लेकिन कुछ भी हो उनका नाम अभी तक अमर अवश्य है। और जब तक यह संसार है अमर रहेगा।

परशुरामजी की ब्रह्मचर्य शक्ति और उनकी मातृ पितृ भक्ति कितनी दृढ़ थी इसकी प्रशंसा कौन न करेगा। परमात्मन्! हमारे देश में फिर ऐसे महापुरुषों को पैदा करो और हमको भी ऐसा ही वरदान दो कि हम भी उनके ही समान बन सकें।

इति शुभम्।

२

हनुमान

सुग्रीव का सु-मित्र बड़े, काम का रहा।
प्यारा अनन्य भक्त, सदा राम का रहा॥
लङ्का जलाय काल खलों को सुभा दिया।
मारे प्रचण्ड दुष्ट दिया भी बुझा दिया॥
हनुमान बली वीर-वरों में प्रधान है।
महिमा अखण्ड, ब्रह्मचर्य की महान है॥

हनुमान

महावीर हनुमान का परिचय देना वास्तव में सूर्य को दीपक दिखाना है। कम से कम भारतवर्ष में तो शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसने इस वीर का नाम न सुना हो। न केवल हिन्दू ही वरन अन्य विधर्मी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि हनुमान अत्यंत वीर साहसी एवं कुशल योद्धा थे।

आज से लगभग आठ लाख, वर्ष पूर्व जब कि भारत में सत-युग का जमाना था (वह काल सतयुग का अन्तिम काल था) रतनपुर में महाराज प्रहलाद विद्याधर राज्य करते थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम "पवन" था। यह लोग क्षत्रीय वंशीय थे और "वानर क्षत्रिय" कहलाते थे। वानर का अर्थ है 'वन में निवास करने वाले अर्थात् वनचर और इसी का अपभ्रंश "वानर" शब्द है। कुछ लोग वानर का अर्थ बन्दर लगाते हैं परन्तु यह उनकी भूल है। "वानर" क्षत्रियों की एक उपजाति थी। दक्षिण में इन्हीं लोगों का बसाया हुआ वानर द्वीप भी था। रतनपुर का राज्य भी वहीं था।

जव पवन वड़े हुये तो उनका विवाह महेन्द्रपुर नरेश महाराज महेन्द्रराय की पुत्री "अन्जना देवी" से तय कर दिया गया। अन्जना अत्यन्त सुन्दरी एवं गुणवती थी। उसकी प्रशंसा दूर २ फैल रही थी। प्रत्येक उसके रूप गुण की प्रशंसा करता था। यह हाल देखकर पवन की यह इच्छा हुई कि विवाह के पूर्व उसके एक वार साक्षात् दर्शन किये जायें।

ऐसा विचार करके पवन अपने कुछ इष्ट मित्रों सहित महेन्द्रपुर की ओर चल दिये। छद्म वेष में वह लोग अन्जना के महल तक पहुंच गये। जिस समय पवन अपने मित्रों के साथ महल की खिड़की के नीचे खड़े हुये थे उसी समय अन्जना भी अपनी सखी सहेलियों के साथ वातें कर रही थी। सखियाँ पवन की वातें कर-करके अञ्जना को शरमा रही थी। एक सखी ने कहा तुम इतना क्यों शरमाती हो ? क्या तुम पवन को नहीं चाहती ?' अञ्जना ने किंचित मुंझलाकर कर कहा हाँ मैं उन्हें नहीं चाहती" और वह यह कह कर मुसकराने लगी। सखियाँ भी हंसने लगी। यह वातें पवन भी नीचे खड़े हुये सुन रहे थे। वह देख तो सकते नहीं थे। केवल वात ही सुन सकते थे इसलिये उन्होंने अञ्जना व सखियों के भाव को तो समझा नहीं केवल यह समझ वैठे कि राजकुमारी मुझे नहीं चाहती और सखियां भी मेरा उपहास कर रही हैं। वस उनका मन राजकुमारी की ओर से फिर गया और वह वहाँ से उल्टे पैरों लौट गये। मित्रों ने वहुत समझाया लेकिन जो वात दिल में वैठ जाय वह कव हट सकती है। उन्होंने प्रण कर लिया कि वाहर वर्ष तक अञ्जना का मुख भी नहीं देखेंगे।

घर पर जाकर पिता जी से तो कुछ कह नहीं सके इसलिये विवाह भी उसी साल वड़ी धूमधाम से हो गया। विवाह के

बाद जब अञ्जना आई तो उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि राजकुमार उसका मुख भी नहीं देखते। वह कारण जानना चाहती थी परन्तु उसे बताता कौन? किसी को मालूम हो जब न? पवन ऐसा अवसर ही नहीं आने देते कि कभी किसी समय दोनों. का साक्षात् कार हो जाये। उन्होंने अञ्जना का मुख भी न देखा। वह अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन कर रहे थे।

बारह वर्ष समाप्त होते ही उन्हें एक युद्ध में जाने की तैयारी करनी पड़ी। उसी समय उनको यह मालूम हुआ कि उनका भ्रम जो अञ्जना के प्रति था वह मिथ्या है। वह अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगे और अंजना से क्षमा माँगने लगे। अंजना ने इतना समय रो रो कर व्यतीत किया था और वियोगिन की भाँति रहती थी रात दिन पवन की तसवीर को अपने पास रखकर ही जीती थी। बारह वर्ष के पश्चात् उसे अपने पति से प्रथम बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ परन्तु वह भी क्षणिक ही केवल एक दिन के लिये था। एक बार दर्शन देकर ही पवन युद्ध के लिए रवाना हो गये।

कुछ दिनों बाद अंजना गर्भवती हो गई। और जब गर्भ के लक्षण पूर्ण रूपेण प्रकट होने लगे तो पवन के माता पिता को आश्चर्य हुआ क्योंकि वह जानते थे कि पवन बारह वर्ष से अंजना से नहीं बोल रहा है। माता पिता ने समझा कि अंजना कुलटा और व्यभिचारिणी है। अंजना बहुत रोई गिड़गिड़ाई लेकिन माता-पिता पर कुछ असर न हुआ। वह लज्जावश यह तो कह नहीं सकी कि पवन का और उसका साक्षात्कार युद्ध में जाते समय हो चुका है। जब कि बारह वर्ष पूरे हो चुके थे।

माता पिता ने क्रोधावेश में गर्भवती अंजना को घर से निकल जाने की आज्ञा दी। अंजना ने बहुत कुछ कहा सुना लेकिन उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में गर्भवती अंजना को घर से निकलना ही पड़ा। वह बेचारी रोती बिलखती वनों की ओर चल दी। अपने माता पिता के पास जाना उसने उचित नहीं समझा।

पवन जब युद्ध से लौट कर आये और अंजना को निकाल देने का हाल सुना तो उन्हें बड़ा दुख हुआ। उन्होंने माता पिता से सारा हाल कह दिया अब तो वह भी अपने किये पर पछताने लगे। अन्ततः पवन अकेले ही अंजना को ढूंढने चल दिये।

कुछ दिनों बाद पवन अपनी प्रिय पत्नि सती श्रेष्ठ अंजना को अपने साथ वापस ले आये। उस समय अंजना की गोद में एक शिशु था जिसका नाम "हनुमान," रक्खा गया। बालक अत्यंत सुन्दर और तेजस्वी था। हनुमान की जन्मतिथि के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है:—

चैत मास बुद्धि अष्टमी पुख नक्षत्र जान।
दिन मंगल परभात को जन्म लियो हनुमान॥

पाठकों के मनोरंजन एवं जानकारी के लिये हम हनुमान जी की जन्म कुंडली भी नीचे देते हैं:—

* जन्म-कुण्डली *
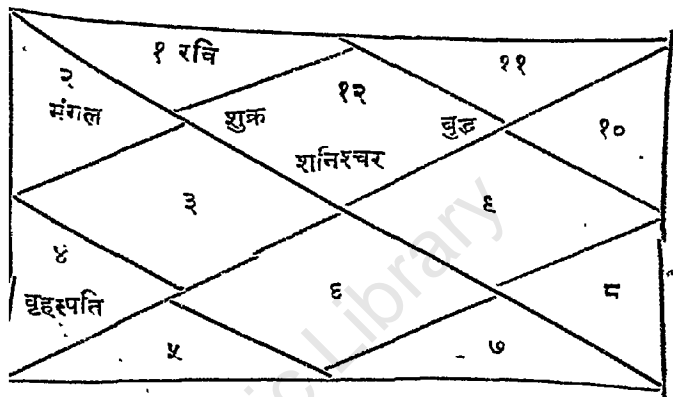
यह जन्म कुण्डली श्री ठाकुर सुखरामदासजी रचित हनुमान चरित्र (उर्दू) जो सन् १६०७ में छपा था उद्धृत की गई है।

उक्त ठाकुर साहब (सुखरामदास जी) ने अपनी पुस्तक में यह भी लिखा है कि हनुमानजी का विवाह भी हुआ था। उनकी धर्मपत्नि किष्किन्धा के (जो पम्पा सरोवर के समीप है) राजा सुग्रीव की कन्या "पद्मरागा" थी। यह नहीं कहा जा सकता कि यह बात कहाँ तक ठीक है क्योंकि अन्य पुस्तकों में इसका वर्णन नहीं मिलता। और प्रायः सभी लेखकों ने हनुमान को बाल ब्रह्मचारी ही सिद्ध किया है। ठाकुर साहब का मत है कि हनुमान जी बाल ब्रह्मचारी अथवा आजन्म ब्रह्मचारी तो नहीं रहे किन्तु ब्रह्मचारी कहलाने के अधिकारी अवश्य हैं। जिस प्रकार लक्ष्मण जी को 'यति' माना गया है। अथवा 'असली शेर जैसे बबरी शेर भी कहते हैं ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी

होता है क्योंकि वह वर्ष में केवल एक वार ही पत्नि समागम करता है। पत्नि के होते हुये भी मनुष्य ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। यदि वह संयम से रहे और नियमों का पालन करता रहे सिंह के समान ही स्त्री सहवास करे। संभवतया ठाकुर साहब का यही मत है। उनका मत सर्वथा सत्य एवं मान्य है। परन्तु इस बात का पूर्ण निश्चय करना कि हनुमान जी विवाहित थे या आजन्म अविवाहित ही रहे यह बात अभी अनिश्चित ही है। अधिकतर लेखक और साधारण जनता सभी इसी पक्ष में है कि हनुमान जी आजन्म अविवाहित थे। खैर कुछ भी हो परन्तु उनके ब्रह्मचर्य में तो किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं उनका मुंह कुछ टेढ़ा था। उसका कारण यह बतलाया जाता है कि एक बार पवन और अंजना हनुमानजी के सहित पुष्पक विमान में बैठे हुए कहीं जा रहे थे। उस समय हनुमान जी की अवस्था बहुत छोटी थी लगभग ३ तीन वर्ष की होंगे। विमान में ऊपर की तरफ सूर्य का चिन्ह था जो सोने का बना हुआ था। समय सूर्यास्त का था अत- सूर्य की किरणें उस प्रतिमा पर पड़ रही थीं और वह खूब दमक रही थी। शिशु हनु-मान ने जब उस प्रतिमा को देखा तो उसे लेने के लिये मचलने लगा जैसा कि बच्चों का स्वभाव होता है। माता पिता ने मना किया परन्तु वह कब मानने वाले थे बालहठ ही जो ठहरी। अचानक मौका पाकर ऊपर को ओर उछले और सूर्य का प्रतिमा को पकड़ना चाहा लेकिन उछलते ही विमान में से नीचे गिर पड़े। माता पिता घबड़ा उठे विमान नीचे उतारा—

जाको राखे साइयां मार न सकिहै कोय।
बाल न बांको कर सके जो जग बैरी होय॥

—देखा कि बालक हनुमान जीवित है यद्यपि वह एक

पत्थर की शिला पर जाकर पड़ा था लेकिन उनके आश्चर्य का वारापार न रहा जव उन्होंने यह देखा कि पत्थर के शिला के दो टुकड़े हो गये हैं। अंजना ने वालक को उठाकर सीने से चिपटा लिया। और वारम्बार प्यार करने लगी। माता पिता दोनों ने ईश्वर को धन्यवाद दिया। वालक हनुमान के कोई विशेष चोट तो नहीं आई थी केवल मुंह पर ऐसा दवाव पड़ा कि वह कुछ टेढ़ा हो गया।

एक शिशु के शिला पर पड़ने से शिला का टूट जाना और वालक का सुरक्षित रहना सुनकर सब लोग आश्चर्य में आ गये और कहने लगे कि यह वालक किसी रोज़ बड़ा वीर और तेजस्वी होगा। अस्तु।

(२)

हनुमान जी को अनेकों नाम से पुकारा जाता है। पवन सुत, मारुति नन्दन (अर्थात् पवन सुत) अंजनीलाल, बजरंग, केसरी-नन्दन (अर्थात् वीर पुत्र) आदि आदि कई नामों से पुकारते हैं। शंकर सुवन भी इनका कहा जाता है। इसका कारण यह कहा जाता है कि शिवशंकर ने एक बार अंजना के पतिव्रत धर्म से खुश हो उसे यह वरदान दिया था कि "तेरे एक पुत्र बड़ा प्रतापी और यशस्वी होगा" इसलिये हनुमान जी को शंकर सुवन भी कहा जाता है। इस विषय में अन्य पौराणिक प्रमाण सत्य प्रतीत नहीं होते वह कल्पित मालूम होते हैं।

हनुमान जी बाल्यकाल से ही साहसी एवं महान वीर थे। वीर पिता और सुशिक्षित माता के पुत्र तो थे ही फिर क्यों न वीर होते। उन्हें धर्म शास्त्र की शिक्षा भी दी गई थी रण शास्त्र की भी दोनों में ही वह खूब निपुण थे। शारीरिक बल में भी वह बढ़े चढ़े हुये थे अपितु अपने पिता से भी अधिक थे। उन्होंने कई युद्धों में अपने पिता की प्रचुर सहायता की थी और कई युद्धों में अकेले भी गये थे।

चाहे शत्रु कितना भी बलशाली हो वह भयभीत होना तो जानते ही नहीं थे। लड़ने भिड़ने में वह कभी संकोच नहीं करते थे। बचपन से ही उनकी यही हालत थी।

उनके जीवन का अधिकांश समय मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र के साथ व्यतीत हुआ था और वही समय उनके जीवन का मुख्य भाग है। रामायण में इसका विस्तृत वर्णन है जो पाठकों से छुपा हुआ नहीं है। हम भी यहां उसी को (केवल वही अंश जो हमारे गाथा नामक वीर हनुमान से सम्बन्धित है) संक्षिप्त में वर्णन करेंगे।

जब रावण सीता का हरण करके लंका चला गया था और राम सीता को खोज लक्ष्मण के साथ इधर उधर भटक रहे थे। और खोजते खोजते किष्किंधापुरी तक जा पहुंचे थे उसी समय ऋष्यमूक पर्वत पर वहां हनुमानजी का राम से साक्षात्कार हुआ। हनुमान जी उन दिनों सुग्रीव के पास रहते थे। और सुग्रीव ऋष्यमूक पहाड़ पर रहता था क्योंकि उसका राज्य उसके भाई बालि ने हड़प लिया था। वहीं राम और सुग्रीव की मित्रता हुई। राम के गुणों से प्रभावित होकर हनुमान जी उनके भक्त हो गये राम के जीवन और उनके आदर्श चरित्र एवं वीरता का हनु-मान जी पर बहुत प्रभाव पड़ा।

रामचन्द्रजी ने बालि को मारकर सुग्रीव को उसका राज्य दिलवाया अतः सुग्रीव भी उनका सच्चा मित्र हो गया और उनकी तन मन धन से ही सहायता करने को तैयार होगया। उसने अपनी सारी सेना को राम की सहायता में लगा दिया। बालि का पुत्र अंगद भी सुग्रीव के पास था और वह भी एक सेना का सेनापति था और हनुमानजी भी एक सेना के सेनापति थे।

सर्व प्रथम हनुमानजी ने ही अकेले लंका में जाकर सीता की खोज करने का निश्चय किया। अनेकों कठिनाइयों का सामना करते हुये भारत और लंका के बीच की समुद्र को पार करके वह वहाँ पहुँच गये और सीता को तलाश कर लिया। रावण की यह दुष्टता देखकर उन्हें क्रोध तो ऐसा आया कि वह सीता से कहने लगे "माताजी! यदि आज्ञा हो तो मैं आपको यहाँ से ले चलूं यदि रावण युद्ध करेगा तो में उसको देख लूंगा।" लेकिन सीताजी ने कहा कि "मैं तो आज्ञा कारिणी हूँ जैसी आज्ञा मेरे पतिदेव ने दी हो वैसा ही करो"। परन्तु

राम को ऐसी आज्ञा नहीं थी हनुमानजी मजबूर थे राम की आज्ञा मानना वह अपना परमधर्म समझते थे ।

उन्होंने उस समय भी अपनी वीरता का नमूना तो दिखा ही दिया। अशोक वाटिका को उजाड़ दिया। कई वीरों को मार गिराया और चल दिये। जो देश महा भयंकर शत्रुओं से जिनमें से हर एक महानवीर भरा हुआ हो उस जगह अकेले जाकर ऐसा उत्पात मचाना साधारण काम नहीं कहा जा सकता। सीताजी ऐसे वीर पुरुष को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुई। हनुमान जी ने उन्हें धैर्य्य बधाया कि अब शीघ्र ही यहाँ भयंकर संग्राम होने वाला है। आप चिन्ता न करें। कुछ ही अरसे में आप मुक्त हो जायेंगी। सतवंती सीता को निराशा के अंधकार में आशा की सुनहरी किरणें दिखाई दीं। हनुमानजी सीताजी के चरणों में सिर नवाकर चल दिये।

राम के पास जाकर हनुमानजी ने सारा हाल कह सुनाया। सब लोग हनुमानजी के साहस पर बड़े खुश हुये विशेषतया राम लक्ष्मण ने तो उन्हें हृदय से लगा लिया।

इस बार अंगदजी राम का सन्देश लेकर दूत के रूप में रावण के पास गये। वहाँ उन्होंने उसको बहुत समझाया कि सीताजी को मुक्त करदो व्यर्थ लड़ाई झगड़ा करने से कोई लाभ न होगा। परन्तु रावण के सर पर तो होनी सवार थी उसे तो अपने सुख ऐश्वर्य से मतलब था बस यही उसकी मूर्खता थी। वह यह नहीं जानता था।

"क्या एतबार दहर का इबरत काजा है यह"

अर्थात् दुनिया का क्या भरोसा है यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये यह तो एक शिक्षालय है। किसी उर्दू कवि ने कहा है

"इश्तर का समर तल्ख़ सदा होता है।
हर कहक़हा पैग़ामे फ़ना होता है ॥"

अर्थात सुख ऐश्वर्य्य भोग विलास का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता इसकी अधिकता सुखप्रद एवं इसका अस्तित्व स्थाई नहीं रह सकता। प्रत्येक खुशी का पल यह प्रकट करता है कि मृत्यु सन्नि कट ही है। अर्थात उस खुशी का अन्त शीघ्र ही होने वाला है। क्योंकि संसार का तो परिवर्तन होता ही रहता है अभी कुछ है थोड़ी देर बाद कुछ हो जाता है। जैसा कि फारसी की एक कहावत है।

"बयक साऊत बयक लहज़ा बयक दम।
दिगरगूं मीशवद अहवाले आलम ॥"

अर्थात प्रत्येक क्षण में संसार परिवर्तित होता रहता है।

लेकिन—"होनी होकर ही मेट सके किन कोय"

वरना रावण जैसा विद्वान पंडित एवं वीर शिरोमणि नारि-हरण क्यों करता और व्यर्थ ही राम से वैर क्यों बढ़ाता परन्तु।

"विनाश काले विपरीत बुद्धि"

उसने अपने भाई विभीषण को भी अपने राज्य से निकाल दिया क्यों कि वह उसे सदैव राम के पक्ष में समझाया करता था। विभीषण को हनुमानजी ने अपनी ओर मिला लिया। वह भी राम का भक्त और मित्र हो गया।

(३)

राम रावण युद्ध

जब रावण समझाने से राह पर न आया तो मजबूरन राम को युद्ध घोषणा करनी पड़ी क्योंकि।

भय ,बिन प्रीति न होय न देवा।
लाख करो बैरी की सेवा ॥

नीतिकारों ने साम, दाम, दंड, भेद, चारों का ही प्रयोग बताया है और बिना इनके काम भी नहीं चल सकता।

बात की बात में घोर भयनाक युद्ध शुरू हो गया लंका देश में सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गई। युद्ध में एक एक वीर काम आने लगे। दोनों ओर उत्साह की बाढ़ उमंड रही थी। महारथी महारथी से और सैनिक सैनिकों से जूझ रहे थे। प्राचीन काल के युद्ध आजकल जैसे युद्ध हुआ करते हैं वैसे नहीं थे। उन युद्धों में शारीरिक बल की आवश्यकता थी और आमने सामने होकर संग्राम मचता था। तलवारों से तलवारें भिड़ जाती थीं। शरीर से शरीर से शरीर मिल जाते थे गदाओं से गदाहीं टकरा जाती थी। तलवारों की चमक आंखों में चकाचौंध पैदा कर देती थी। शंखों का शंखनाद, वीरों की हुंकर लोगों के दिल दहलाने को काफी होती थीं। उन रक्त के प्यासे सैनिकों को देखने मात्र से हृदय कम्पायमान हो उठता था। शोर गुल गरज झनझनाहट गड़गड़ाहट से दिशायें काँप उठती थीं। रणक्षेत्र अत्यन्त भयंकर हो जाता था चारों ओर लाशें नजर आती थीं। रणभूमि पर शोणित का लाल दरिया बहता था। जिधर देखो उधर बीभत्स दृश्य ही दृष्टि गोचर होते थे और रौद्ररस की वृष्टि होती हुई मालुम होती थी।

हनुमानजी भी उसी रणक्षेत्र में अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे। इस बार उन्हें युद्ध करने में विशेष सुख प्राप्त हो रहा था क्योंकि वह अपने श्रद्धास्पद राम की ओर से लड़ रहे थे और अपनी श्रद्धालु माता सीता का मुक्त करने के लिये लालायित थे। उनकी वीरता को देखकर शत्रु दल हाहाकार रहा था। वास्तव में सच्चा वीर वही है जो—

कवित्त

सिंह के समान जो दहाड़ उठे एक बार
करके हुंकार विश्वभर को गुंजादे जो।
डोल उठें अम्बर दिशायें कांप जायें अरु
भूमि थर थराये ऐसी प्रलय मचादे जो॥
नदियाँ बहादे रौद्र रस की अवनि पर
रुद्र रूप होके शिव ताण्डव रचादे जो।
वीर है वही जो निज बल को सफल करे,
वीरत्व प्रभा को इस भाँति प्रकटादे जो॥

परन्तु अचानक ही रंग में भंग होगया और श्रीराम के अनुज श्री लक्ष्मणजी मेघनाद की शक्ति द्वारा रणक्षेत्र में मूर्छित होगये। सारी सेना शोक सागर में विलीन होगई। राम फूट फूट कर भ्रातृस्नेह से विकल होकर बच्चों की भाँति रोने लगे। सब लोग आँसू बहा बहा कर अपने शोकोद्गार प्रकट कर रहे थे परन्तु महावीर हनुमान ने ऐसी विकट परिस्थिति में शान्त रहना उचित न समझा। वह तत्काल ही द्रोणागिरि पर्वत की ओर रवाना होगये जहाँ संजीवनी बूटी मिलती थी। और सूर्योदय से पहले उस बूटी को ले आये। उस बूटी का प्रभाव सुप्रसिद्ध एवं जग विदित ही है। उसने लक्ष्मणजी की मूर्छा को तत्काल दूर कर दिया।

हनुमानजी के इस उपकार का बदला श्रीरामचन्द्रजी के पास क्या था। उन्होंने बड़े प्रेम से हनुमान को हृदय से लगाया और बारम्बार धन्यवाद देने लगे। हर्ष और प्रेम से राम की आँखों से जल वर्षा होने लगी।

हनुमानजी की राम के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा नितान्त निःस्वार्थ थी। वह उनकी सेवा किसी स्वार्थवश होकर नहीं करते थे। न उन्हें उनसे कुछ लालच ही था। वह केवल अपना कर्त्तव्य

समझ कर अपना मानवधर्म पालन कर रहे थे। लोक सेवा एवं परोपकार प्रत्येक मानव का ही परमधर्म है।

युद्ध फिर छिड़ गया और अब उसका रूप भयानक और अधिक भयंकर होने लगा। अन्ततः रावण ने स्वयम रणक्षेत्र में पदार्पण किया जब कि उसने यह देखा कि उसके सारे सम्बन्धी भ्रातादि वीर मारे जा चुके हैं तो उसने स्वयम ही राम को उनके दल बल सहित नष्ट करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

पाठक स्वयम ही अनुमान लगा सकते हैं कि यह युद्ध कैसा भयंकर रहा होगा क्योंकि यह मानी हुई बात है कि अन्तिम समय में युद्ध का रूप बड़ा भयानक हो जाता है और सभी वीर अपने प्राणों को हथेली पर रखकर संग्राम करते हैं। यह बात सभी लड़ाइयों में देखी जाती है। रावण अपनी पूर्ण शक्ति से लड़ रहा था और उसने रामादल में त्राहि-त्राहि मचा दी थी। इस इस समय श्री हनुमानजी का रण कौशल सराहने योग्य था। वह अपनी प्रशंसा के लिये कुछ करना नहीं चाहते थे न उन्हें कोई मैडिल या उपाधि ही लेनी थी। उनका तो हृदय ही उन्हें इस ओर प्रेरित कर रहा था। वह उन वीरों में से थे जो कहा करते हैं—

कवित्त

चाह यश की न परवाह अपयश की न
वाह वाह सुनना न चाहता समर में।
आततायियों का आततायीपन हरने को
नाश करने को दुष्टता का पल भर में॥
वैरिदल को 'उमेश' मारने को मरने को
स्नान करने को रक्तरंजित नहर में।

रथ रणधीरता का कवच सुवीरता का
करतव्य रूपी है धुधारा मेरे कर में ॥

अन्त में परिणाम वही हुआ जो होना था। रावण रणक्षेत्र में लड़ता लड़ता ही मारा गया। उसके मरते ही उसकी सेना हतोत्साहित होगई। लंका में स्यापा सा छा गया। जहाँ खुशियाँ हर वक्त रहा करती थीं वहाँ से रुदन की आवाजे आने लगीं। सच है—इशरत है कभी दहर में और ग़म का कभी दौर।

है शादी ओग़म का यह मुरक्का जो करो ग़ौर॥
रोता है बाग़बां दरे गुलशन पै बार बार।
शायद चमन से होती है रुख़सत बहार आज॥

❀ ❀ ❀ ❀

सच तो यह है कि बुरा वक्त न दिखलावे खुदा।
दोस्त फिर जाते हैं दुशमन की शिकायत हो क्या?

लंका में चारों ओर शोक की सरितायें प्रवाहित हो रही थीं। वहाँ का राज्य विभीषण को दे दिया गया और सीताजी अशोक वाटिका से मुक्त करके लाई गईं। लेकिन कुछ लोग उनकी पवित्रता पर सन्देह करने लगे। राम मतलब उन्होंने बड़े दुख से यह सब देखा और सुना और सीता को अग्नि परीक्षा की आज्ञा कहते हैं प्राचीन समय की यह प्रथा प्रचलित थी कि किसी स्त्री की पवित्रता की जांच करने के लिए उसको जलती आगमें कूदना पड़ता था या गरम तवे पर खड़ा होना पड़ता था। यदि वह पवित्र होती तो आग का प्रभाव उस पर नहीं होता था और आग शान्त होजाती थी या तवा ठण्डा हो जाता था और यदि वह अपवित्र होती तो परीक्षा देने में संकोच करती थी या आग से झुलस जाती थी। यह बात सत्य है या नहीं यह कैसे कहा जाये—सिवाय रामायण के इस का प्रमाण भी अन्यत्र नहीं

मिलता। खैर कुछ भी हो सीताजी की अग्नि परीक्षा तो हुई ही और उसमें सफलता भी हुई। हनुमानजी ऐसी राक्षसी कठिन परीक्षा के पक्ष में बिलकुल नहीं थे और उन्होंने इस का तीव्र विरोध भी किया परन्तु सर्वसाधारण का भ्रम निवारण करने के लिए प्रजावत्सल राम को ऐसा करना ही पड़ा।

राम के साथ सभी लोग अयोध्या तक गये। राम के राज्याभिषेक के बाद सबको एक-एक करके विदा कर दिया गया परन्तु हनुमान ने जाना स्वीकार नहीं किया। वह राम के पास ही रहना चाहते थे। उनकी हार्दिक अभिलाषा को नष्ट करने का साहस राम में भी नहीं था। अतः हनुमानजी रामके ही पास रहने लगे, और वहीं सुख से जीवन व्यतीत करने लगे।

राम सीता लक्ष्मण आदि सभी हनुमानजी को अपना आत्मीय जन ही समझते थे। सभी उनके अनन्त उपकारों के ऋणी थे। प्रेम के अतिरिक्त भला वह लोग किस प्रकार उनके उपकारों का प्रतिकार कर सकते थे।

३

भूला न किसी भांति कड़ी, टेक टिकाना।
माना मनोज का न कहीं ठीक ठिकाना॥
जीते असंख्य, शत्रु रहा, दर्प दिखाता।
शय्या शरों की, पाय मरा, धर्म सिखाता॥
अब एक भी न भीष्म बली सा सुजान है।
महिमा अखण्ड ब्रह्मचर्य की महान है॥

भीष्म

(१)

शकुन्तला और महाराज दुष्यन्त के यशस्वीवीर पुत्र भरत के नाम से ही आज तक यह देश भारतवर्ष कहलाता है। उसी भरत के वंश में महाराज शान्तनु थे। जो हस्तिनापुर में (जो उनकी राजधानी थी) राज्य करते थे। वह द्वापर युग का ज़माना था। शान्तनु की रानी का नाम गंगा था।

शान्तनु और गंगा का एकमात्र पुत्र "देवव्रत" ही था। देवव्रत अत्यंत वीर थे और सत्यता, शिष्टता, सभ्यता, साधुता सुन्दरता, वीरता, धार्मिकता आदि गुणों के लिये सर्वत्र प्रख्यात थे। प्रजा भी ऐसे युवराज को पाकर फूली न समाती थी। जब वह नगर में निकलते थे तो प्रजा का दल बादलों की तरह उनके दर्शनों के लिये उमड पड़ता था। माता पिता का प्रेम भी उनपर अत्यधिक था। होना ही चाहिये एक तो इकलौता पुत्र दूसरे ऐसा गुणवान।

एक दिन शान्तनु शिकार खेलते खेलते अकेले ही एक नदी के किनारे पहुँच गये। शाम का वक्त हो चुका था उस समय उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर बालिका नदी के किनारे नाव में बैठी हुई है। वह उसके रूप पर तन मन से मोहित होगये। उस कन्या से विवाह करने की उनकी इच्छा प्रबल हो उठी। उन्होंने कन्या से उसका नाम और पता पूछा। उसने कहा "महाराज! मेरा नाम सत्यवती है और मैं एक केवट की कन्या हूँ" महाराज उस केवट का पता पूछकर उसके पास गये और उन्होंने उसपर अपनी इच्छा प्रकट की। केवट ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया "महाराज! यह तो मेरा सौभाग्य है परन्तु मैं चाहता हूँ कि राज्य का अधिकारी सत्यवती का ही पुत्र हो। क्या मेरी यह शर्त आप स्वीकार कर सकेंगे?"

महाराज देवव्रत के होते यह कैसे कर सकते थे। वह उदास

मुख लौट गये। यदि वह चाहते तो बलपूर्वक उस कन्या को ला सकते थे परन्तु प्रजावत्सल धर्मात्मा राजा शान्तनु ऐसा करना नहीं चाहते थे।

वह अब हमेशा उदास रहने लगे। उन्होंने यह हाल किसी से न कहा। केवल वृद्ध मंत्री को यह बात मालूम होगई थी। महाराज की दशा दिन बदिन गिरने लगी। देवव्रत से यह न देखा गया। उसने कई बार महाराज से पूछा किन्तु महाराज ने टाल दिया अन्त में एक दिन देवव्रत को वृद्ध मंत्री द्वारा यह बात बात मालूम होगई। वह तत्काल केवट के पास जा पहुँचे।

केवट ने युवराज का यथोचित आदर सत्कार किया। युवराज ने कहा—'तुम अपनी कन्या का विवाह पिताजी से करदो" केवट ने हाथ जोड़कर कहा—'युवराज! यह तो मेरा सौभाग्य है परन्तु मेरी वही शर्त अब भी है जो महाराज से कह चुका हूँ।" केवट ने यह भी बताया कि कन्या वास्तव में उसकी निजी कन्या नहीं है। वह उसको नवजात शिशु के रूप में सरिता के तट पर मिली थी। उसका लालन पालन उसने ही किया है।

युवराज ने उत्तर दिया "इसकी चिन्ता न करो। मैं इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि तुम्हारी कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही राज्य का मालिक होगा। मैं राज्य सिंहासन पर नहीं बैठूंगा। युवराज का यह त्याग देखकर केवट व अन्य उपस्थिति लोग

चकित होगये। उसने कहा—"आपके बाद आपकी सन्तान तो अवश्य झगड़ा करेगी।"

युवराज ने जवाब दिया "इसकी भी चिन्ता न करो। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ भगवान साक्षी हैं कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा और विवाह ही न करूंगा। "न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी"। अब तुम्हें किसी प्रकार की आशंका नहीं करनी चाहिये। क्षत्रियों की प्रतिज्ञा पर्वत के समान अटल और अचल होती है।"

उपस्थित सभी लोगों के मुख से "धन्य! धन्य" के शब्द निकल पड़े। सब युवराज की सराहना करने लगे। केवट का मस्तक भी राजकुमार के चरणों में झुक गया। राजकुमार देवव्रत प्रसन्न होते हुये अपने घर वापस आये और यह शुभसंवाद अपने पिता को सुना दिया। पिता व अन्य लोग देवव्रत के इस कृत्य पर अत्यन्त आश्चर्यन्वित हुये और सबने देवव्रत की बड़ी प्रशंसा की। अन्ततोगत्वा महाराज शान्तनु का विवाह सत्यवती से होगया। इसी भीषण प्रतिज्ञा करने के कारण देवव्रत का नाम भीष्म पड़ा।

कुछ काल पश्चात् यथासमय सत्यवती के दो पुत्र हुये। उनके नाम "चित्रांगद" और "विचित्र वीर्य" रक्खे गये। पुत्रों के उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही महाराज शान्तनु का भी स्वर्गवास होगया। राजकुमार अभी बालक थे इसलिये राजकाज भीष्मजी ही सम्हालने लगे। सिंहासन खाली रहता था और भीष्मजी सेवक की भाँति राज कार्य सम्हालते थे।

जब राजकुमार बड़े हुये तो चित्रांगद सिंहासन पर बैठे किन्तु युवावस्था में ही उनका स्वर्गवास होगया। वह अविवाहित ही मर गये। तत्पश्चात् विचित्रवीर्य राजा हुये। भीष्मजी ने उनका विवाह काशीनरेश की दो पुत्रियों से अम्बिका और अम्बालिका से कर दिया। यह विवाह उनको युद्ध करके करना पड़ा क्योंकि काशीनरेश से भीष्मजी की अनबन थी। लेकिन दैवयोग से विचित्रवीर्य भी विवाह के कुछ समय बाद ही निस्संतान ही मर गये। अब राज्य का अधिकारी भी कोई न रहा और दोनों रानियाँ भी विधवा होगईं इस प्रकार वंश वृद्धि में भी बाधा पड़ गई। यह देखकर सत्यवती को बड़ा दुख हुआ।

सत्यवती ने मंत्रियों की सहायता से एवं सलाह से भीष्मजी से राजा बनने को कहा परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ भीष्म ने इस प्रस्ताव को किसी भाँति स्वीकार न किया। तब सत्यवती ने भीष्मजी से

दोनों रानियों के सन्तान उत्पन्न करने को कहा। इस बात को भी भीष्मजी ने स्वीकार न किया क्योंकि वह ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर चुके थे सत्यवती ने भीष्मजी को कई बार समझाया परन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुये और अटल ही रहे। उन्होंने कहा—

त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणंत्यजेत् ॥
विक्रमं वृत्रहाजह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन् ॥

अर्थात—पृथिवी अपने स्वभाविक गुण को त्याग दे, जल अपने गुण को त्याग दे। सूर्य अपने गुणरूप को त्याग दे, वायु स्पर्श को त्याग दे, इन्द्र अपना विक्रम छोड़ दे परन्तु यह क्षत्रिय अपने वचन से नहीं हटेगा।

भीष्म की अटल प्रतिज्ञा के सामने जब किसी की न चली तो मन्त्रियों और विद्वानों की सलाह से कृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास द्वारा उन दोनों विधवा रानियों के पुत्र उत्पन्न कराये गये।

दोनों रानियों से दो पुत्र उत्पन्न हुये, एक का नाम धृतराष्ट्र था और वही बड़े थे दूसरे का नाम पाण्डु था। धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे इसलिये वह तो राजा न बन सके पाण्डु को राजा बनाया गया।

धृतराष्ट्र का विवाह गांधार देश (कन्धार) के राजा की कन्या गांधारी से हुआ। गांधारी बड़ी पतिव्रता थी उसने भी विवाह के बाद से ही अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली थी क्योंकि उसका पति धृतराष्ट्र अन्धा था।

पांडु का विवाह दो राजकुमारियों से हुआ था। एक तो भगवान् कृष्ण की बुआ "कुन्ती" थी और दूसरी मद्र देशाधिपति की कन्या "माद्री" थी।

धृतराष्ट्र के दुर्योधन, दुःशासन आदि अनेकों पुत्र थे और पांडुके पाँच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, तो कुन्ती से और नकुल सहदेव माद्री से। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव कहलाते थे और पांडु के पुत्र पाण्डव। पाण्डु के मरने के बाद युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव भी धृतराष्ट्र के पास ही रहने लगे और चूँकि युधिष्ठिर ही सबसे बड़े थे इसलिये राजतिलक भी युधिष्ठिर का ही हुआ लेकिन राजकाज ज्यादातर दुर्योधन ही सम्हालता था क्योंकि धृतराष्ट्र तो कुछ कर ही नहीं सकते थे इसलिये अपना अधिकार उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को ही देदिया था।

कौरव-पाण्डव-वैमनस्य

दुर्योधन आदि कौरवों का स्वभाव बड़ाक्रूर था। वे सभी दुष्ट और कपटी थे इसके विपरीत पांडव धर्मात्मा सीधे और

वीर थे। बाल्यकाल में सभी राजकुमार राजगुरु द्रोणाचार्य के पास शस्त्र विद्या सीखते थे। पांडव और खासकर अर्जुन सबमें होश्यार थे। पांडवों की वीरता देखकर कौरव बहुत जला करते थे।

एक बार धोखे से दुर्योधन ने अपने मामा शकुनि की सहायता से युधिष्ठिर को जुए के खेल में हरा दिया। युधिष्ठिर इस नासकारी खेल में अपना राज पाट वगैरा सब हार गये और खुद को भी हार गये। दुर्योधन ने आज्ञा दी कि पांडवों को तेरह साल का बनवास दिया जावे और तेरहवें साल में यदि कहीं दिखाई दिये तो बारह साल का बनवास फिर दिया जावेगा अर्थात् तेरहवां साल उनको गुप्त रहकर व्यतीत करना होगा। बेचारे पांडव राज्य से निकाल दिये गये। इससे पूर्व भी पांडवों को एक बार दुर्योधन ने राज्य के दूसरे भाग में भेज दिया था और वहां उन्हें एक मकान में जलाने का षडयंत्र किया था परन्तु पांडव बच गये और वहाँ से पांचाल देश की ओर चले गये थे। वहां द्रौपदी का स्वयंवर था अतः अर्जुन ने द्रौपदी से विवाह कर लाया।

बनबास के समय पांचों पांडवों के साथ द्रौपदी भी थी। बारह वर्ष तो उन्होंने जंगलों में इधर उधर व्यतीत किया। तेरहवां वर्ष उन्होंने विराट नगर में (जो आजकल जयपुर राज्य में वैराट नाम से प्रसिद्ध है) वहाँ के राजा के यहाँ रह

कर व्यतीत किया। छहों प्राणी छद्म वेष में रहते थे अतः विराट नरेश को भी पता न लगा कि यह लोग पांडव ही हैं। इन्हीं दिनों दुर्योधन ने विराट देश पर चढ़ाई करदी और विराट की गायें छीनना चाहीं। भीष्मजी भी इस युद्ध में आये थे। पांडवों ने भी छद्मवेष में ही इस युद्ध में विराट की ओर से भाग लिया। भीष्मजी से अर्जुन का युद्ध हुआ। अर्जुन के बाणों से और भीम के युद्ध कौशल से भीष्मजी समझ गये कि यहीं पाण्डव रहते हैं। युद्ध में पाण्डवों की सहायता से विराट की जीत हो गई। दुर्योधन हार कर लौट गया। पाण्डवों की तेरह वर्ष भी समाप्त हो चुके थे। विराट को भी इन लोगों पर सन्देह हो गया था। वह समझ गया था कि हो न हो यह साधारण व्यक्ति नहीं है! अन्त में उसे जब यह मालुम हुआ कि यह लोग पाण्डव है तो बड़ा लज्जित हुआ। उसने पाण्डवों से क्षमा मांगी और यह इच्छा प्रकट की कि अर्जुन से अपनी कन्या उत्तरा का विवाह करदें। परन्तु चूंकि अर्जुन उत्तरा को गान विद्या सिखाते थे इसलिये उन्होंने कहा कि उत्तरा मेरी पुत्री के समान हैं परन्तु यदि आप चाहें तो मेरे पुत्र अभिमन्यु से इसका विवाह करदें। अभिमन्यु अर्जुन की द्वितीत पत्नि सुभद्रा का पुत्र था। सुभद्रा श्रीकृष्ण की बहन थी। अतः अभिमन्यु से उत्तरा का विवाह बड़ी धूमधाम से हो गया।

तेरह वर्ष समाप्त हो चुके थे परन्तु दुर्योधन फिर भी पाण्डवों को राज्य देना नहीं चाहता था। विराट नगर से एक दूत भेजा

गया परन्तु उसने कोरा जवाब दे दिया। अन्त में श्रीकृष्ण खुद गये लेकिन दुर्योधन ने यही जवाब दिया कि बिना युद्ध के एक सुई की नोक के बराबर जमीन भी नहीं मिल सकती। भीष्मजी ने दुर्योधन को बहुत समझाया लेकिन उसकी कुछ समझ में नहीं आया।

महाभारत युद्ध

जब कौरव किसी भी प्रकार राजी न हुये तो मजबूरन पांडवों को युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। पांडव और भीष्मजी वगैरा सभी लोग यही चाहते थे कि शान्ति से ही सब काम हो जावे लेकिन कुटिल दुर्योधन मानता ही नहीं था। सब लोग जानते थे कि पांडव धर्मात्मा हैं और जीत पांडवो की होगी क्योंकि सत्य और धर्म की हमेशा विजय होती है। शास्त्रों का प्रमाण है।

"सत्यमेव जयति नानृतम्"

गीता में भी कहा है—"यतोधर्मस्ततो जयः"

कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में कौरव पांडवों की सेनायें आ डटीं। कुरुक्षेत्र को आजकल थानेश्वर भी कहते हैं और कुरुक्षेत्र भी। कौरवों की सेना बहुत काफी थी क्योंकि उनकी सहायतार्थ अनेकों राजा आये हुये थे और भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा वगैरा भी कौरवों के साथ थे। यह लोग हृदय से तो पाण्डवों के

पक्ष में थे परन्तु चूंकि दुर्योधन उनका राजा था इसलिये उसी की ओर से उन्हें लड़ना पड़ा।

संग्रामभूमि में अर्जुन को मोह होगया था उसी समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था जो आजकल संसार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में माना जाती है। पाण्डवों के पास सेना तो कम थी लेकिन सत्य का बल था—

"सत्यम् बलम् महाबलम्"

दूसरी बात यह थी कि श्रीकृष्ण जैसे राजनीतिज्ञ अर्जुन के सारथी थे। यद्यपि उन्होंने स्वयं युद्ध न किया परन्तु सलाह देते रहे।

कौरवों की सेना के नायक भीष्मजी ही थे। पाण्डव रोज उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने आते थे और वह सदैव उनकी जय-कामना ही करते थे और "तुम्हारी विजय हो" यही आशीर्वाद देते थे।

रोज भयंकर युद्ध होता था परन्तु भीष्मजी के आगे पाण्डवों की भी नहीं चलती थी। यद्यपि पाण्डवों ने भी कौरवों की नाक में दम कर दिया था। परन्तु भीष्मजी को जीतना (यद्यपि वह वृद्ध होचुके थे) आसान नहीं था। आठ दस रोज तक यही हाल रहा।

एक दिन युधिष्ठिर ने कहा—"पितामह ! हमारी विजय कैसे होगी ?" पितामह भीष्म ने कहा—"मेरी मृत्यु होने पर–ठहरो मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूँ। देखो मैं कभी उस व्यक्ति से युद्ध नहीं करता जिसमें स्त्रियों के से गुण हों और तुम्हारे दल में शिखण्डी नामक एक ऐसा ही व्यक्ति है। युद्ध में तुम उसे मेरे सामने कर देना। उस समय मैं शस्त्र प्रयोग न करूँगा और फिर तुम मुझे मार सकते हो।"

पाठको ! देखा आपने ? ऐसा आदर्श कहाँ मिल सकता है। इस प्रकार अपनी मृत्यु बताना क्या साधारण बात है ? यह भीष्म जैसे हो बालब्रह्मचारी का काम है ?

दूसरे दिन ऐसा ही किया गया। उस दिन बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। भीष्मजी ने भी खूब कमाल दिखाया। पाण्डव सेना हाहाकार कर उठी। अन्त में पाण्डवों ने वही तरकीब की। शिखण्डी को सामने करके अर्जुन भीष्मजी से लड़ने लगे। भीष्म ने मुख फेर लिया और वह दूसरी ओर युद्ध करने लगे, शिखण्डी की तरफ उनकी पीठ थी। बस फिर क्या था, अर्जुन ने बाणों से भीष्मजी का शरीर छेद दिया। उनके सारे शरीर में बाण ही बाण छिद गये और अन्त में वह धराशायी होकर वहीं रणक्षेत्र में गिर पड़े। उनके गिरते ही युद्ध बन्द होगया। उस समय शाम होचुकी थी। कौरव पाण्डव दोनों भीष्मजी के पास आ खड़े हुए, सभी उनकी यह दशा देख कर शोकातुर हो रहे थे। परन्तु

भीष्म—? आहा ! वह अत्यन्त प्रसन्न थे उनके मुख पर दुःख का एक भी निशान नहीं था। भीष्म ने उस समय भी सबको शान्ति से उपदेश दिया। दुर्योधन को भी समझाया परन्तु वह भला कब मानने वाला था।

भीष्म का सारा शरीर बाणों पर टिका हुआ था केवल उनका शीस ही नीचे लटक रहा था। अतः उन्होंने कहा—"कौन ऐसा वीर है जो मेरे शिर के नीचे तकिया लगा सके।" दुर्योधनादि बड़े २ मखमली तकिये लेकर दौड़े। भीष्मने हंसकर कहा—'वीरों को यह तकिये शोभा नहीं देते।' उन्होंने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन ने तत्काल कुछ बाण मार कर उनके शिर को जमीन से ऊंचा कर दिया। कुछ देर बाद भीष्मजी ने जल पीने की इच्छा प्रकट की। सब लोग चाँदी सोने के पात्रों में शुद्ध जल लेकर आए परन्तु भीष्म ने फिर हंसकर अर्जुन की तरफ देखा। अर्जुन ने उसी समय जमीन में बाण मार कर जल की धारा निकाल दी जो सीधी पितामह के मुख में जा रही थी। भीष्म पितामह अर्जुन से बहुत खुश हुये।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

महाभारत का युद्ध समाप्त होने तक भीष्मजी इसी प्रकार शरशैय्या पर पड़े रहे। वह नित्य युद्ध का समाचार सुन लेते थे। कुरुवंश का नाश होगया दुर्योधनादि सब मारे गये केवल पांच पाण्डव और धृतराष्ट्र जीवित रहे।

सब स्त्री पुरुषों को अपने सामने बुलाकर भीष्मजी ने सबको उपदेश दिया उनके अमृतमय दिव्य उपदेश से ही सबको शान्ति मिली तत्पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर को राजधर्म, क्षत्रियधर्म आदि उपदेश दिये। बराबर डेढ़मास तक वह इसी प्रकार उपदेश देते रहे।

पूरे ५८ दिन बाणों की शैय्या पर विश्राम करके भीष्मजी इस संसार को छोड़ कर दिये। उनका शिर फट गया और आत्मा शिर में होकर निकल गई। तत्पश्चात् चन्दन की चिता में घृतादि सुगन्धित पदार्थों द्वारा वेदमन्त्रों की आहुतियों से उनका दाह संस्कार किया गया।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

भीष्मजी वास्तव में एक दिव्य पुरुष थे। ५८ दिन तक बाणों की शैय्या पर जीवित रहना बालब्रह्मचारी भीष्म का ही काम था, उन्होंने कष्ट का नाम भी न लिया मुंह से उफ़ भी न की। उपदेश देते रहे। क्या यह कोई साधारण बात है? आज कल की तो बात ही क्या उस समय के वीर भी उनकी वीरता पर आश्चर्य करते थे।

श्रीकृष्ण ने भी आश्चर्य चकित होकर भीष्मजी से पूछा था कि "आप बिना कष्ट पाये शरशैया पर प्राणों को रोके हुये पड़े हैं इसका क्या रहस्य है?" भीष्मजी ने उत्तर दिया कि यह सब ब्रह्मचर्य का प्रताप है। भीष्मजी योगविद्या भी जानते थे इसलिए

योग से भी उन्होंने अपने प्राणों को रोके रक्खा और इतने दिनों समाधि लगाये रहे।

भीष्मजी ने प्रत्येक धर्म का भली भांति पालन किया। राज-धर्म, क्षत्रियधर्म, आदि सभी धर्मों को उन्होंने खूब निभाया। यहां हमने विषय बढ़ जाने के भय से विस्तृत रूप में कुछ नहीं लिखा और न महाभारत का ही विषय छेड़ा है। हमें तो केवल बाल ब्रह्मचारी भीष्म के ब्रह्मचर्य पर ही लिखना था इसलिये संक्षिप्तयः भीष्म का ही वर्णन किया है और उनके ब्रह्मचर्य का ही महत्व प्रकट किया है।

भीष्मजी एक महान पुरुष थे उनकी आत्मा महान थी। वास्तव में वह महात्मा थे जैसा कि नीतिकारों ने महात्मा शब्द की व्याख्या की है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्॥

वेदों के ज्ञाता होने के कारण वह वेदों की आज्ञा का पालन किया करते थे और वेदों का उपदेश ही सबको दिया करते थे। यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जीजिविषेच्छतꣳसमाः। (यजु०अ०४०।मं०१)

यही कारण था कि उस समय भी सभी लोग उनका आदर करते थे। स्वयं श्रीकृष्ण की भी उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। उनके आदर्श जीवन चरित्र पर समस्त देश मुग्ध था। उनकी

वाणी में जादू था जो प्रत्येक पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती थी। भीष्मजी सच्चे शब्दों में विद्वान, परोपकारी, धैर्यवान् सत्यवादी, सहनशील न्यायप्रिय, धर्मदृढ़, प्रणवीर, कर्मवीर, युद्धवीर, राजनीतिज्ञ एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। यह उपरोक्त गण उनके वास्तविक मुख्य गुण थे। कई लेखकों ने भीष्मजी को राजर्षि लिखा है वास्तव में ठीक है। वह सच्चे राजर्षि थे। भीष्मजी को सब धर्मों का यथार्थ ज्ञान था। उनका जीवन जिस अंश में देखो महान ही मिलेगा। शारीरिक बल, आत्मिक बल, आदि सभी में वह अद्वितीय थे उनका जीवन आदर्श और मनन करने योग्य है। किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

भीष्मः सर्व गुणोपेतः ब्रह्मचारी दृढ़व्रतः।
लोकविश्रुत कीर्तिश्च सद्धर्माभून्महामतिः॥

४

संसार सार, हीन सड़ा, सा उड़ा दिया।
अल्पज्ञ जीव, मन्द दशा से छुड़ा दिया॥
अद्वैत एक, ब्रह्म सबों, को बता दिया।
कैवल्य रूप, सिद्धि-सुधा का पता दिया॥
भ्रम भेद भरा, शंकरेश, का न ज्ञान है।
महिमा-अखण्ड ब्रह्मचर्य की महान है॥

शङ्कराचार्य्य

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यम् ॥

वास्तव में ऐसा ही होता आया है। जब २ सत्य सनातन वैदिकधर्म पर आपदाओं के भयंकर बादल छाये तब २ उन्हें छिन्न भिन्न करने के लिये महापुरुषों का जन्म होता रहा।

वैदिकधर्म प्रधान देश भारतवर्ष में जिस समय बौद्ध धर्म का सितारा बुलन्द पर था और वैदिकधर्म का ह्रास होता जा रहा था उसी समय "शंकराचार्य्य" ने धर्म-रक्षार्थ भारत में जन्म लिया। वैदिकधर्मावलम्बियों की बड़ी बुरी दुर्दशा थी (हां अवश्य ऐसा तो शायद नहीं जैसी कि मुगल काल में थी किन्तु उससे मिलती हुई ही थी) यूं तो बौद्ध जैन आदि भी हैं तो हिन्दू अथवा आर्य्य ही किन्तु केवल अन्तर यही है कि वे लोग वेदों को नहीं मानते और वेदों का अस्तित्व मिटाना ही उस काल में उन लोगों का प्रधान उद्देश्य हो रहा था। बौद्धों की संख्या धड़ाधड़ बढ़ रही थी और वैदिकधर्म वालों की संख्या घटती जा रही थी। ऐसा मालूम होता था मानो वेदों का नामो-निशान भी न रहेगा। अस्तु—

दक्षिण में सुप्रसिद्ध देश केरल के समीप पूर्णानाम्नी नदी के तट पर एक नगर बसा हुआ था वहां "विद्याऽधिराज" नामक एक विद्वान् ब्राह्मण पण्डित रहा करते थे। उनके पुत्र का नाम "शिवगुरु" था। शिवगुरु भी अपने पिता के समान विद्वान् थे और उनकी धर्मपत्नि भी उन दिनों रूप, गुण एवं विद्वत्ता के

लिये देशभर में प्रसिद्ध थीं। उनका नाम "सती" था। "शंकराचार्य्य" इन्हीं शिवगुरु और सती के पुत्र थे।

जब "शंकराचार्य्य" लगभग तीन या साढ़े तीन वर्ष के थे तभी उनके पिता पं० शिवगुरु का देहान्त होगया था। शंकराचार्य्य का बचपन का नाम केवल "शंकर" ही था। पिता की मृत्यु के पश्चात् इनकी माता सती ने इनका पालन पोषण किया। माता बुद्धिमती, विदुषी एवं सुशिक्षिता तो थी ही अतः पालन-पोषण भी अच्छे ढंग से होता रहा। उस जमाने में खाने पीने की कमी तो थी ही नहीं निर्धनता भारत से कोसों दूर थी— भारतवर्ष का वह स्वर्ण काल था और सोने की चिड़िया कहलाता था। उसी समय को याद करके लोग अब भी भारत को सोने की चिड़िया ही कहते हैं और कहा करते हैं कि यहां की जमीन सोना उगलती है। सोना या स्वर्ण से मतलब यह नहीं कि यहां सोने की खानें ज्यादा थीं बल्कि यह मतलब है कि यह देश समृद्धशाली था। किसी को खाने पहनने का कष्ट न था। अन्न, धन सभी था।

शंकरजी पांच वर्ष की अवस्था में गुरु के पास विद्याध्ययन करने बैठे और उन्होंने थोड़े ही काल में काफी विद्या ग्रहण करली। छोटी उम्र में ही वह वेद और शास्त्रों के ज्ञाता होगये। जब वह पढ़ लिखकर पंडित होगये और उनका ब्रह्मचर्य्याश्रम समाप्त होने को हुआ तो माता ने उनके विवाह की चिन्ता करना शुरू की। परन्तु इस विषय में पुत्र की सम्मति लेना अनिवार्य्य थी। पहले आजकल की तरह धांधलेबाज़ी नहीं थी कि चाहे जिसके साथ बिना वर कन्या की इच्छा के विवाह कर दिया। बिना दोनों की सम्मति के पहले विवाह नहीं होते थे।

शंकरजी को जब विवाह की बात मालुम हुई तो वह बड़े घबड़ाये क्योंकि उनकी इच्छा तो यह थी कि आजन्म ब्रह्मचारी

रहकर वेदशास्त्रों का अध्ययन ही करता रहूँ। उन्होंने माता से कह दिया कि "मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर ही जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। मैंने ब्रह्मचर्य्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम की बजाय सन्यासाश्रम में प्रवेश करने का दृढ़ संकल्प कर लिया है अतः आप मेरी इच्छाओं को कुचल कर मुझे मजबूर न करें।"

ओह! माता को तो ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं थी। वह यह संकल्प सुनकर स्तम्भित रह गई। उसने शंकरजी को बहुत समझाया उपदेश दिया कहा सुना लेकिन उन पर कुछ असर न हुआ। उनके हृदय में तो वैराग्योदय हो चुका था। माता विकल होकर रोने लगी। विशेष दुख उसे इस बात का हुआ कि उसका पुत्र उसे छोड़कर चला जावेगा। शंकरजी ने अपनी माता को खूब समझाया और उस समय विवाह की बात भी स्थगित कर दी।

एक दिन नदी में स्नान करते समय शंकरजी के पैर को एक मगर ने पकड़ लिया। पास खड़े हुए लोगों ने शोर मचाया। शंकरजी की माता भी आ पहुंची। शंकरजी ने माता से कहा कि "अगर तुम मुझे सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा देदो तो यह मगर अभी मेरा पैर छोड़ देगा।" पुत्र की यह बात सुनकर मातृ-स्नेह उमंड आया और उन्होंने शंकरजी को सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा देदी। शंकरजी ने यह सुनकर मगर से अपना पैर छुड़ा लिया और नदी से बाहर आकर माता के चरण स्पर्श किये। माता ने पुत्र को हृदय से लगा लिया और बारम्बार आशीर्वाद दिया।

शंकरजी ने अपने अन्य सम्बन्धियों से अपनी माता की देखरेख के लिये कह दिया और इस बात का वचन दिया कि अन्तिम दाह संस्कार वह स्वयम् ही अपने हाथों से ही करेंगे। शंकरजी ने सन्यास ग्रहण करने का उद्देश्य भी अपनी माता पर

प्रकट कर दिया। उन्होंने कहा कि "मैं वैदिकधर्म का नितप्रति ह्रास अपनी आंखों से नहीं देख सकता। मेरे गुरुदेव का और माता! तुम्हारा भी तो यही उपदेश है कि वैदिकधर्म का उत्थान करो अतः इसी अभिप्राय से मैं सन्यास ग्रहण कर रहा हूं" माता ने यह सुनकर गद्गद होकर पुत्र को हृदय से लगा लिया। माता मूर्ख तो थी नहीं सुशिक्षिता एवं बुद्धिमती थी—वह स्वयम् शंकर को सदैव यही उपदेश दिया करती थी कि "वैदिकधर्म का उत्थान करो"। उसने अपने पुत्र को हृदय से आशीर्वाद दिया और उत्साह एवं स्नेह पूर्वक सन्यास ग्रहण करके लोकोपकार एवं धर्मोद्धार करने की आज्ञा दी। माता का शुभाशीर्वाद प्राप्त करके शंकरजी घर से चले गये।

(२)

नर्मदा नदी के किनारे महात्मा श्री गोविन्दाचार्य जी का आश्रम था। शंकरजी वहीं पहुंचे और उन्हीं महात्मा जी से सन्यास को ग्रहण किया। संन्यासी होने के पश्चात वहीं पास में "भूमिसुर" नामक ग्राम में कुटी बनाकर शंकरजी रहने लगे। गोविन्दाचार्यजी ने शंकरजी को तेजस्वी देखकर उपदेश दिया कि वेदों का खूब प्रचार करो और व्यास सूत्रों पर भाष्य की रचना करो। वैदिक धर्म का उद्धार करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझो और अद्वैत मतका, प्रचार करो "गोविन्दाचार्यजी की आज्ञा से ही शंकरजी वहाँ केवल चार महीने रहकर ही काशी चले गये।

काशी में सर्वप्रथम एक ब्राह्मण नवयुवक जो अत्यन्त विद्वान एवं बुद्धिमान था शंकरजी का शिष्य हुआ। वह भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी था। शंकरजी ने उसका नाम सनंदन रक्खा। शंकरजी अब शंकराचार्य कहलाने लग गये थे। सनंदन का नाम भी कुछ दिनों बाद पद्मपादाचार्य पड़ गया क्योंकि वह शंकरजी

की चरण सेवा बहुत किया करता था और हर समय शंकरजी के पास ही रहता था। शंकरजी के सत्संग एवं सहयोग से उसकी बुद्धि का विकास होने लगा और उनसे योगाभ्यास भी सीखा। वह भी शंकरजी के समान ही वेदों के प्रचार का संकल्प कर चुका था। इसी लिये वह शंकरजी का शिष्य हुआ और स्वतः ही शंकरजी के प्रति उसकी श्रद्धा हो गई थी। वास्तव में शंकरजी का आदर्श जीवन एवं दिव्य चरित्र ऐसा ही आकर्षक एवं अनुपम था। दिन ब दिन शंकरजी के शिष्यों की संख्या बढ़ती ही जाती थी। और उनकी कीर्ति सुगन्ध की भांति देश में चारों ओर फैलती जा रही थी। सर्वत्र उनकी विद्वत्ता का एक शोर मच गया था।

चाण्डाल से शिक्षा

एक बार शंकरजी अपने शिष्यों सहित गंगास्नान करके आरहे थे। रास्ते में उन्हें एक अछूत चाण्डाल मिला। शंकरजी ने उससे बचकर निकलने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु वह मार्ग ऐसा संकीर्ण था और चलने वाले अनेकों थे कि सब हिल मिल हो गये और उनके वस्त्र, का एक कोना उस चाण्डाल के वस्त्र से स्पर्श हो गया। यह देखकर शंकरजी कुपित हो गये और चाण्डाल को डाटने फटकारने लगे।

चाण्डाल ने नम्रता पूर्वक कहा "महात्मन्! मैंने कौनसा भयंकर अपराध किया है जिसपर आप इतना क्रोध प्रकट कर रहे हैं। मैं भी मनुष्य हूँ और आप भी मनुष्य हैं। मेरा शरीर भी पंचभौतिक है और आपका भी। मुझमें और आपमें शरीर भेद ही क्या। आत्मा भी कभी स्पर्श मात्र से मलिन नहीं हो सकती। आत्मा तो अभेद असंग, सर्व व्यापक, चिद्रूप, सद्रूप, आनन्दरूप एवं पवित्र कहलाती है और वही सबमें हममें आप समान रूप में व्यापक है। महात्मन्! सन्यासियों को ऐसा भेद

भाव नहीं रखना चाहिये ! विशेषतया अद्वैतमत प्रचारक संन्यासियों को ऐसा अहंकार एवं दम्भ शोभा नहीं देता । क्षमा करिये महाराज ! चाण्डाल हम नहीं चाण्डाल तो आपके हृदय में अहंकार के रूप में विराजमान है उसे दूर कीजिये तब आप अद्वैत वादी महात्मा कहला सकेंगे ।

उस चाण्डाल की यह बातें सुनकर शंकराचार्य चकित रह गये । उनका अहंकार जो उस समय उनके हृदय में था दूर हो गया और चाण्डाल की बातें उनको सत्य प्रतीत होनेलगीं । पाठकों को आश्चर्य होगा कि एक चाण्डाल में ऐसा ज्ञान कहाँ से आया । परन्तु यह कोई असम्भव बात नहीं है । संभव है वह विद्वानों के सत्संग में रहा हो ।

शंकराचार्य अपने कृत्य पर पश्चाताप करने लगे और चाण्डाल से क्षमा मांगने लगे । इतना ही नहीं शंकरजी ने उस चाण्डाल को अपना गुरु स्वीकार किया । उन्होंने कहा कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह कोई भी हो कैसा भी हो किसी भी जाति का हो यदि वह उचित उपदेश देता है और सत्पथ का प्रदर्शन करता है तो वह अवश्य हमारा गुरू है ।

इसके बाद कुछ समय तक शंकरजी काशी में रहकर बद्रिकाश्रम तीर्थ की ओर चले गये । वहाँ रहकर उन्होंने व्यास सूत्रों पर भाष्य की रचना की और उपनिषद् तथा गीता पर भी भाष्य बनाये वहाँ भी कई विद्वानों से उनका शास्त्रार्थ हुआ और उन्होंने विजय प्राप्त की । अतएव उनकी ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी ।

उसी जमाने में भट्टपाद नामक एक विद्वान दक्षिण में रहते थे । वह बौद्ध और जैन मत के भी बड़े विद्वान थे । उनका

विद्वत्ता की धूम भी चारों ओर फैली हुई थी वह जैमिनिमतानुयायी थे .इसलिये. उनका मत निरीश्वरवाद था। वह एक बार सुधन्वा नामक राजा के पास पहुँचे जो बहुत प्रतापी और वीर था। पहले वह वैदिक धर्मावलम्बी ही था परन्तु फिर बौद्ध हो गया था। उसके राज्य में बौद्ध और जैन मत का ही ज़ोर था और उसके दरबार में भी अधिकांश बौद्ध और जैनी ही थे।

भट्टपाद ने सुधन्वा की इच्छानुसार बौद्ध एवं जैन पंडितों से शास्त्रार्थ किया। भट्टपाद की विजय हो गई। इसलिये राजा सुधन्वा भट्टपादजी का शिष्य हो गया। अन्य कई लोगों ने भी राजा का अनुकरण किया।

शंकर जी और मंडन मिश्र

जिस समय भट्टपाद जी का देहावसान हुआ उससे कुछ समय पूर्व शंकर जी का भी उनसे साक्षात्कार हुआ। भट्टपादजी ने उन्हें उपदेश दिया और वेदप्रचार करने की आज्ञा दी। उन्होंने यह भी कहा कि "मण्डन मिश्र से तुम शास्त्रार्थ करो यदि तुम्हारी जय हो तो तुम अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल हो जाओगे। परन्तु वहां पर सम्हल कर जाना वह बड़ा भारी विद्वान् है और उसकी स्त्री भी बड़ी पंडिता है।

मंडनमिश्र अपनी विदुषी पत्नि सहित रेवा नदी के किनारे माहिष्मती नामक नगरी में रहते थे। शंकर जी अपने कुछ शिष्यों सहित प्रयाग होते हुये वहीं पहुँचे। अपने शिष्यों को तो उन्होंने वहीं रेवा नदी के तट पर ही छोड़ दिया और आप स्वयम् अकेले ही माहिष्मती नगरी में चले गये। वहां उन्होंने

मण्डन मिश्र का मकान पूछा तो लोगों ने बताया कि जिस घर के द्वार पर तोता मैना पक्षी आदि भी ज्ञानोपदेश की चर्चा करते हों उसी घर को तुम मण्डन मिश्र का जानना। मण्डन मिश्र की एक दासी मिली उसने भी यही उत्तर दिया। वह कविता में ही बोली :—

श्लोक—स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरां गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तत्पंडित मण्डनौकः ॥१॥
फल प्रदं कर्म फल प्रदोऽज्ञो कीरांगना यत्र गिरां गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तत्पंडित मण्नौकः ॥२॥
जगध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्कीरांगना यत्र गिरां गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तर सन्निरुद्धा जानीहि तत्पंडित मण्डनौकः ॥३॥

शंकराचार्य यह देखकर चकित होते जा रहे थे कि जिसकी दासी भी इतनी पंडिता है कि वह स्वयम् न जाने कैसा विद्वान् होगा आखिर शंकराचार्य ने मण्डन मिश्र का मकान तलाश कर ही लिया। वहां मालूम हुआ कि मण्डन मिश्र किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त हैं और उन्हें किसी से मिलने का समय नहीं है।

परन्तु शंकराचार्य ने इसकी कुछ चिन्ता न की और बेधड़क अन्दर चले गये। मण्डन मिश्र उस समय कुछ धार्मिक कार्य कर रहे थे। उन्हें उस समय अन्य पुरुष का आना अच्छा मालूम नहीं हुआ। अतएव वह क्रोधित होकर शंकर जी से विविध भांति के प्रश्न करने लगे और शंकर जी नम्रता से सबका उत्तर देते गये। इसी प्रकार कुछ देर तक विवाद अथवा वितंडा-वाद चलता रहा। उसी समय मण्डन मिश्र की पंडिता पत्नि "भारती" भी वहां आ पहुँची। उसने अपने पति को समझाया

कि आगन्तुक सन्यासी है और अतिथि है अतः उसका अपमान करना एवं उससे विवाद करना ठीक नही। अतिथि सेवा हमारा परम धर्म है। मण्डन मिश्र का क्रोध उतरा और उन्होंने शंकर जी से अपमान की क्षमा मांगी। शंकर जी शान्त थे।

शंकराचार्य ने कहा कि "मैं किसी कार्य से या भिक्षा मांगने के लिये आपके पास नहीं आया हूँ। मेरी तो इच्छा यह है कि मैं आपसे शास्त्रार्थ करूं। क्या मेरा यह निमंत्रण आप स्वीकार कर सकते हैं?" मण्डन मिश्र ने सहर्ष यह निमंत्रण स्वीकार किया। शंकर जी ने कहा कि हमारे शास्त्रार्थ में मध्यस्थ कौन होगा। मण्डन मिश्र ने कहा "मेरी स्त्री मध्यस्था बनेगी" शंकराचार्य ने यह बात भी स्वीकार करली।

पहले तो शंकर जी का आतिथ्य सत्कार किया गया। भारती ने बड़े आदर से शंकर जी व मिश्र जी को भोजन कराया। सब आवश्यक कार्यों से निवृत होकर शास्त्रार्थ का कार्य शुरू हुआ।

मण्डन मिश्र की पंडिता धर्मपत्नि "भारती" ने मध्यस्था का यह ग्रहण किया और शंकराचार्य और मण्डन मिश्र दोनों में शास्त्रार्थ होने लगा। दोनों ही बड़े विद्वान् थे अतः कई दिनों तक शास्त्रार्थ होता रहा और अन्त में मण्डन मिश्र हार गये। उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली परन्तु उसी समय उनकी पत्नि भारती ने शंकराचार्य जी से कहा कि शास्त्रों में स्त्री को पति की अर्द्धांगिनी कहा गया है इसलिये आपने मेरे पति को हराकर उनका केवल आधा अंग ही पराजित किया है जब आप शास्त्रार्थ में मुझे भी हरा देंगे तभी आपकी पूर्ण विजय हो सकेगी।" शंकराचार्य ने भारती की यह शर्त स्वीकार

करलो। भारती से उनका शास्त्रार्थ होने लगा। भारती ने काम-शास्त्र विषय में प्रश्न शुरू किये—कामदेव क्या है इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इसका निवास किस किस समय कहां कहां होता है आदि २" परन्तु शंकर जी काम शास्त्र मे नितान्त अनभिज्ञ थे। उन्होंने केवल इसी शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था क्योंकि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। अतः वह भारती के किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सके। उन्होंने एक महीने की मोहलत मांगी। भारती ने भी उनकी यह शर्त स्वीकार कर ली।

शंकराचार्य वन में अपने शिष्यों के पास पहुँचे और उनसे सारा हाल कह दिया। उन्होंने कहा कि एक मास को मैंने अवकाश लिया है इसी समय में मुझे कामशास्त्र का पूर्णतया अध्ययन कर लेना होगा। कुछ समय तक योग समाधी लगाकर उन्होंने कहा कि "मैंने योग बल से देखा है कि एक राजा ने इसी समय शरीर त्याग किया है अतः मैं भी शरीर त्याग कर उसके शरीर में प्रवेशकरता हूँ जबतक मैं लौट कर न आऊं तब तक तुम मेरे शरीर की रक्षा करना। मैं एकमास में कामशास्त्र का अध्यन करके अवश्य वापस लौट आऊंगा" यह कहकर उन्होंने अखंड समाधि लगा ली और अपने शरीर को त्याग दिया। और उस राजा के शरीर में चले गये। उधर उस राजा के दाह संस्कार की तैयारियाँ हो रही थी परन्तु ज्यूं ही शंकराचार्य की आत्मा ने राजा के मृतक शरीर में प्रवेश किया वह लाश जिन्दा हो गई। यह देखकर सब लोग चकित हो गये परन्तु फिर सोचने लगे शायद राजा के प्राण पूर्णतया नहीं निकले थे। नगर में पुनः हर्ष ध्वनि होने लगी और राजकाज होने लगा।

एक महीने तक शंकरजी की आत्मा राजा के शरीर में रही। इस अरसे में शंकराचार्य जी ने कामशास्त्र का पूर्ण तया

अध्ययन कर लिया और जब एक मास समाप्त हुआ तभी उनकी आत्मा राजा के शरीर से निकलकर शंकरजी के शरीर में चली गई। राजा का शरीर फिर निर्जीव हो गया।

अब शंकराचार्य जी कामशास्त्र के भी पूर्ण ज्ञाता हो चुके थे। परन्तु यहाँ पाठकों को अवश्य शंकायें होंगी। कुछ लोग समझते होंगे कि आत्मा को शरीर का इस प्रकार त्यागना असंभव सी बात है। परन्तु नहीं यह योग विद्या है जिसमें शंकरजी काफी निपुण थे। इसी योग विद्या का कुछ अंश आजकल "मैसमैरिजम" के नाम से प्रसिद्ध है। मैसमेरिजम में भी ऐसा ही होता है। आजकल योग विद्या का लोप हो गया है। इसी लिये यह बातें आश्चर्य उत्पन्न करने वाली मालुम होती हैं। दूसरी शंका लोगों को शंकरजी के ब्रह्मचर्य के विषय में हो सकती है। वह समझते होंगे कि शंकरजी ने कामशास्त्र सीखकर अपने ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। परन्तु ऐसा नहीं है गौर से देखने पर मालूम होगा कि उनका अखंड ब्रह्मचर्य फिर भी वैसा ही रहा क्योंकि वह अपने शरीर का त्याग तो कर ही चुके थे। केवल अपनी आत्मा को राजा के शरीर में प्रवेश किया था।। आत्मा तो सदैव पवित्र है वह कभी पतित नहीं होती। पवित्रता और अपवित्रता का सम्बन्ध तो शरीर से है। शंकरजी की आत्मा ने कामशास्त्र का अध्ययन तो किया किन्तु शंकर जी के शरीर से नहीं राजा के शरीर द्वारा। अतएव शंकरजी का शरीर पतित नहीं हो सका और न शंकरजी के ब्रह्मचर्य व्रत में ही कोई वाधा उपस्थित हुई। योग विद्या द्वारा सब कार्य सुगम होगये। "साँप मरा लाठी न टूटी"।

कामशास्त्र को जान लेने पर शंकरजी पुनः मण्डन मिश्र के मकान पर पहुंचे। भारती ने उनका सादर स्वागत किया।

भारती और शंकरजी में शास्त्रार्थ होने लगा। दो दिन तक बराबर शास्त्रार्थ होता रहा न किसी की जय हुई न पराजय भारती की विद्वत्ता देखकर शंकराचार्यजी दांतों तले उंगली दबा गये। जो विद्वान वहाँ उपस्थित थे वे सब भी भारती की मुक्त कंठ से प्रशंसा कर रहे थे। कुछ लोगों को तो पूर्ण विश्वास था कि शंकराचार्य नहीं जीत सकेंगे और भारती उन्हें हरा देगी।

परन्तु शंकराचार्य भी तो साधारण पुरुष न थे। अखंड ब्रह्मचर्य का तेज उनके मुख मंडल पर विराजमान था। योग विद्या और वेद शास्त्रों के वह पूर्ण ज्ञाता थे। अन्ततः विजय श्री शंकरजी के हाथ लगी। भारती हार गई।

मण्डन मिश्र और भारती शंकरजी का काफी प्रभाव पड़ा। दोनों शंकराचार्य के शिष्य हो गये। इन दोनों के शिष्य होने से देश भर में खलबली मच गई क्योंकि सर्वत्र मण्डन मिश्र और भारती की विद्वत्ता का बोल बाला था। बड़े से बड़ा पंडित भी उनके सामने बोलने तक का साहस नहीं कर सकता था। सुदूर देशों में उनकी धाक जमी हुई थी। शंकराचार्य द्वारा उनके हार जाने से सब लोगों पर शंकराचार्य की विद्वत्ता की छाप लग गई। मण्डन मिश्र के भी बहुत शिष्य थे वह सब भी शंकराचार्य के शिष्य होगे। कुछ दिनों बाद मण्डन मिश्र ने भी सन्यास ले लिया और शंकराचार्य के साथ ही रहने लगे। मंडन मिश्र जैसे विद्वान पंडित के साथ रहने से शंकराचार्य को वैदिक धर्म के उद्धार में प्रचुर सहायता मिली। भारती भी अपना जीवन वेद प्रचार में ही बिताने लगी उसने भी सन्यास ले लिया

था। शंकरजी ने मण्डन मिश्र का नाम बदल कर "सुरेश्वराचार्य" रख दिया था।

शंकराचार्य्यजी के शिष्यों में सन्यासी भी थे और गृहस्थ पुरुष भी थे और स्त्रियां भी थीं। कई वर्षों तक शंकराचार्य्य देश विदेशों में वेदों का प्रचार करते रहे। और वैदिकधर्म फिर जाग उठा और वह दिन व दिन बढ़ने लगा। जिस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्दजी ने शुद्धि का प्रचार करके देशभर में हलचल मचादी थी इसी प्रकार उस समय भी शंकराचार्य्य ने वेदों का एवं वैदिकधर्म का प्रचार करके विधर्मियों के छक्के छुड़ा दिये थे। विधर्मी लोग शंकराचार्य्यजी के नाम मात्र से घबड़ा उठते थे। उनके तेज के सामने किसी भी व्यक्ति को मुकाबला करने की हिम्मत नहीं होती थी।

कुछ काल पश्चात् एक दिन उन्हें अकस्मात् अपनी माता का ध्यान आगया। उनकी माता उस समय मरण शैय्या पर पड़ी हुई थी यह उन्होंने योगबल से मालुम कर लिया। वह तुरन्त अपनी माता के पास पहुंचे और उसके चरणों पर गिर पड़े। माता ने स्नेह से गदगद होकर पुत्र को हृदय से लगा लिया। वह अपने पुत्र के यश एवं गौरव को देखकर परम सुखी हो रही थी उसने हृदय से शंकरजी को आशीर्वाद दिया और फिर उसके प्राण शरीर को छोड़कर चले गये।

शंकरजी ने भी अपनी माता को उपदेश दिया। उन उपदेशों का संग्रह "उपदेश साहस्त्री" नामक ग्रन्थ में है जो शंकरजी का ही रचा हुआ है। पाठकों को याद होगा हम पहले लिख चुके हैं कि शंकरजी ने माता को यह वचन दिया था कि "तुम्हारा

अन्तिम संस्कार मैं अपने हाथों से करूंगा ।" शंकरजी ने अपने उसी प्रण का अब पालन किया ।

कहते हैं कि उनके इस कृत्य पर लोग उनके विरोधी होगये थे उनका कहना था कि सन्यासी होकर माता का दाह संस्कार नहीं करना चाहिये । परन्तु शंकरजी ने किसी की परवाह न की । वह विरोध की कभी चिन्ता न करते थे । जब कि किसी ने उनका साथ न दिया और यहां तक कि दाह संस्कार के लिये किसी ने आग भी नहीं दी तो उन्होंने योगबल से ही माता का दाह संस्कार किया । आग स्वतः ही लकड़ियों से उत्पन्न होगई और लाश जल गई ।

शंकरजी अपने अन्तिम काल में नैमिषारण्य चले गये लेकिन जहां जाते थे निरुद्देश्य नहीं जाते थे वेदों का ही प्रचार करते थे । कामरू देश में भी उन्होंने वेदों का प्रचार किया । वहां अभिनवगुप्त ने क्रोधित होकर मन्त्रादि के अनुष्ठानों से शंकरजी को भयंकर रोगों में ग्रस्त कर दिया किन्तु शंकरजी के शिष्य पद्मपादाचार्य्य ने उन अनुष्ठानों का खण्डन करके शंकरजी को रोग मुक्त कर दिया । इस प्रकार शंकरजी को अपने अन्तिम काल में विविध कष्टों का सामना करना पड़ा । एक बार एक मनुष्य जो कपाली मतानुयायी था और शंकरजी से द्वेष रखता था साधु वेष में शंकरजी के पास आया और शिष्य बनकर विद्या पढ़ने व उनके साथ ही रहने की इच्छा प्रकट करने लगा । शंकरजी ने स्वीकार कर लिया । कुछ दिनों बाद उसने शंकरजी से कहा कि "मुझे किसी श्रेष्ठ महात्मा के शिर की आवश्यकता है क्योंकि ऐसा करने से मेरा एक व्रत पूर्ण होगा जो मैंने अपनी एक कामना पूर्त्ति के लिये किया है ।" शंकरजी उसका मतलब

समझ गये। उन्होंने कहा कि "तुम मेरा ही सिर काट लेना लेकिन उस समय जब कि मेरा कोई भी शिष्य मौजूद न हो।

वह कापालिक अब अवसर की ताक में रहने लगा। वह शंकरजी के प्राणों का ग्राहक बना हुआ था। एक दिन जब शंकरजी समाधी लगाये बैठे थे। और उनके पास उनका कोई भी शिष्य नहीं था उस समय कापालिक आया और भयंकर वेष धारण करके हाथ में खड्ग लेकर शंकरजी का सिर काटने के लिये आगे बढ़ा। उसी समय उसको ऐसा मालुम हुआ कि शंकरजी के तेजस्वी मुखमण्डल से ज्योति निकल रही है और स्वयम् शंकरजी एक भयंकर विशालकाय सिंह का रूपधारण किये बैठे हुये हैं। पहले तो वह भयभीत होगया परन्तु फिर उसने साहस किया और आगे बढ़ा। आगे बढ़ते ही उसकी तलवार अपने आप हाथ से छूट पड़ी और हाथ भय से कांपने लगे। शंकरजी के तेज के समक्ष वह न ठहर सका, उसी समय शंकरजी के शिष्य पद्मपादाचार्य्य आ पहुँचे। उन्होंने क्रोधित होकर कापालिक को वहीं मार डाला। दुष्ट को दुष्टता का दंड मिल गया। शंकरजी को समाधि से उठने पर सारा हाल मालूम हुआ और कापालिक की मृत्यु का भी दुख हुआ। उन्होंने अपने शिष्य से कहा "तुमने उसे क्यों मारा उसे अपने कृत्य का फल स्वयम् ही मिल जाता।" पाठको! कैसा उच्च आदर्श है? धन्य! धन्य!! शतवार धन्य!! साधु! साधु!!

कामरू देश के बाद शंकरजी काश्मीर गये और तत्पश्चात बद्रीवन चले गये और वहीं उनका देहान्त होगया। उनके बाद उनके शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया और वह लोग वेदों का प्रचार करते रहे।

शंकरजी के प्रयत्न से वैदिकधर्म का वृक्ष फिर लहलहा उठा और चहुँ ओर "वैदिकधर्म की जय" के नारे लगने लगे। वास्तव में शंकराचार्य्य संसार की एक महान् विभूति थे। सच्चे महात्मा एवं सन्यासी थे—परोपकारी एवं वास्तविक साधु थे और थे तेजस्वी महान् प्रतापी नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

५

विज्ञान-पाठ, वेद पढ़ों को पढ़ा गया।
विद्या-विलास, विज्ञवरों, का बढ़ा गया॥
सारे असार, पन्थ मतों, को हिला गया।
आनन्द-सुधा, सार दया, कर पिला गया॥
अब कौन दयानन्द यती, के समान है।
महिमा अखण्ड, ब्रह्मचर्य, भी महान है॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती

(१)

र्यसमाज के प्रवर्त्तक हिन्दुकुलदीपक स्वनामधन्य महर्षि दयानन्दजी का नाम कौन नहीं जानता ? स्वामीजी का जन्म काठियावाड़ के मोरवी नगर में समृद्धिशाली औदीच्य ब्राह्मण पं० अम्बाशंकर जी की धर्मपत्नि के गर्भ से पौष मास सम्वत् १८८१ विक्रमी को हुआ। उनका नाम मूलशंकर रक्खा गया। अम्बाशंकरजी शैव थे इसलिये घर में शिवजी की पूजा हुआ करती थी। होनहार मूलशंकर नितप्रति चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे। बाल्यावस्था से ही उनकी बुद्धि बड़ी तेज थी जिसे देखकर लोग आश्चर्य किया करते थे। बचपन में ही उन्होंने अनेकों श्लोक व मंत्र कंठस्थ कर लिये थे। पिता का ध्यान भी बालक की शिक्षा की ओर विशेष रूप से था।

आठ वर्ष की अवस्था में मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार होगया और अब वह नियम पूर्वक गायत्री पाठ सन्ध्योपासना विधि सहित करने लगे। यजुर्वेद संहिता भी उन्होंने इन्हीं दिनों पढ़ ली।

चौदह वर्ष की अवस्था में एक दिन शिवरात्रि के अवसर पर सब ने व्रत किया। मूलशंकर को भी उपवास रखना पड़ा और तमाम रात सब के साथ जागरण भी करना पड़ा। रात को

अचानक सब को नींद आगई मूलशंकर ही जागते रहे। उन्होंने देखा कि एक चूहा महादेवजी के सामने से मिठाई लेजा रहा है। उन्होंने सोचा कि महादेवजी चूहे से भी अपनी रक्षा नहीं कर सके वह भक्तों की रक्षा कैसे करेंगे और यह तो जड़ वस्तु है चेतन तो है ही नहीं इसे बोध ही क्या ? अतः उनका मन मूर्ति-पूजा से हट गया और उसी रोज़ से उनके जीवन में आश्चर्य-जनक क्रान्तिकारी परिवर्तन होगया उसी समय से मूलशंकर के हृदय में वैराग्य भी उत्पन्न होने लगा और गौतम बुद्ध के समान वह भी मुक्ति की खोज करने की इच्छा करने लगे। उनका मन संसार से बिल्कुल हट गया था। यह देखकर उनके माता पिता ने उनके विवाह का उपाय सोचा। जब मूलशंकर को यह मालूम हुआ तो उन्होंने पिता से विद्याध्ययन करने के लिये बाहर जाने की राय मांगी क्योंकि वह आजन्म ब्रह्मचारी रहकर ही जीवन व्यतीत करना चाहते थे। परन्तु उनके पिता इस बात पर राजी न हुए। मूलशंकर की उम्र अब २२ वर्ष की हो चुकी थी। अतः सम्वत् १९०२ वि० के ज्येष्ठ मास में वह अकेले घर से निकले और उन्होंने यह विचार कर लिया कि अब पुनः इस घर में नहीं आऊंगा।

गंभीर भयानक जंगलों में होते हुए वह एक नगर में पहुंचे वहां उनकी भेंट एक ब्रह्मचारी से हुई उसकी प्रेरणा से उन्होंने संन्यास धारण किया और उनका नाम उस रोज़ से 'शुद्ध चैतन्य" रक्खा गया। वह बहुत दिनों तक उनके साथ रहे फिर वहां से चले गये। उधर उनके माता पिता उनकी खोज कर रहे थे अन्त में उनको पता मालूम हो ही गया और वह ज़बरदस्ती उनको घर ले गये। लेकिन नदी का जल कब स्थिर रह सकता है। आंधी कब रोके से रुक सकती है ? वह फिर माता पिता की आंख बचाकर घर से निकल गये और बड़ोदा जा पहुंचे पचीस

वर्ष की अवस्था में उन्होंने दण्डी स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से पुनः संन्यास ग्रहण किया। उस रोज़ से उनका नाम "दयानन्द सरस्वती" रक्खा गया। इस समय तक वह काफी विद्वान् हो चुके थे और विविध शास्त्रीय ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन कर चुके थे।

सम्वत् १६१२ वि० में वह हरिद्वार के कुम्भ मेले में गये। वहां से ऋषीकेश, टेहरी, गढ़वाल, केदारघाट, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, गौरीकुण्ड, जियुगीनरायन आदि स्थानों में घूमते रहे और विद्वानों का सत्संग करते रहे। उनका घूमना आजकल के संन्यासियों की भांति निरुद्देश्य नहीं होता था और न केवल उनका उद्देश्य यही था कि केवल भाषण दे दिया और बस······ वह प्रत्येक स्थान पर रहकर वहां की धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण अध्ययन करते थे और कुरीतियों को मिटाने की भरसक चेष्टा करते थे।

इसके बाद वह हिमालय पहाड़ पर घूमने के लिये चल दिये। तुंगनाथ, ऊखीमठ, जोशीमठ, बद्रीनरायन आदि स्थानों की सैर करते हुए और पतित पावनी भागीरथी की तरल तरंगों का आनन्द अनुभव करते हुए नैसर्गिक छटा का अवलोकन करते हुये पुनः वापिस मैदान में आगये और रामपुर पहुंचे। तत्पश्चात् प्रयाग, काशी व नर्मदा की तलहटियों में घूमते हुये मथुरा आगये।

सम्वत् १६१७ वि० के कार्तिक मास में स्वामी दयानन्दजी की भेंट दण्डी स्वामी विरजानन्दजी से हुई। उनका प्रभाव स्वामीजी पर बहुत पड़ा। वह उनके शिष्य होगये और उन्हीं से विद्याध्ययन करने लगे। स्वामीजी अपने गुरु की तन मन से सेवा करते थे यहां तक कि कभी २ गुरुजी उनको मारते पीटते

भी थे और ताड़ना भी देते थे लेकिन उन्होंने कभी कुछ न कहा और न उनकी गुरु के प्रति श्रद्धा कम हुई। वास्तव में गुरुजी भी ऐसा शिष्य पाकर अत्यन्त प्रसन्न थे।

मथुरा में स्वामीजी का यश दिन दूना चमकने लगा। उनकी गुरुभक्ति की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। प्रत्येक व्यक्ति के मुख से उनकी विद्वत्ता व बुद्धि की प्रशंसा सुनाई पड़ती थी। ब्रह्मचर्य के कारण उनके मुखमण्डल पर भी ऐसा तेज विराजमान था कि प्रत्येक प्रभावित हुये विना नहीं रहता था। उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का प्रताप भी सारे नगर में सुगन्ध की तरह फैल गया। एक वार एक नवयुवती स्वामीजी पर मोहित होगई और जब वह यमुना नदी के किनारे गये हुये थे वह उनके चरणों में गिर पड़ी। स्वामीजी भयभीत होकर दूर हट गये। पहले तो वह उसका अभिप्राय नहीं समझे किन्तु बाद में जब उन्हें उसका अभिप्राय मालुम हुआ तो वह उसे भांति २ के उपदेश देने लगे। उपदेश से नवयुवती पर काफी प्रभाव पड़ा और वह वापस लौट गई। स्वामीजी ने केवल इतनी सी बात का प्रायश्चित तीन दिन तक सुनसान वन में अकेले रह कर किया।

दण्डी स्वामीजी से विद्याध्ययन करने के पश्चात स्वामी दयानन्द जी कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिये प्रवृत्त हुये। जिस समय वह गुरूजी से विदा हुये गुरुजी ने उन्हें बहुत देर तक उपदेश दिया और कहा कि "संसार का उपकार करो, धर्म और समाज का उद्धार करो, वैदिक धर्म का चहुं ओर प्रचार करो-"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" अर्थात् समस्त संसार को आर्य बनाओ। प्रचलित रूढ़ियां एवं कुरीतियों को दूर करो। जो आर्य जाति अंधकार में पड़ी हुई है उसको जागृत करो।" गुरूजी का उपदेश स्वामीजी ने शिरोधार्य किया और वहां से चल दिये।

सम्वत् १६२० वि० में स्वामीजी आगरे पहुँचे। वहां उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और श्रीमद्भगवद्गीता का सरल शब्दों मे अनुवाद किया। सन्ध्या की तीन हज़ार प्रतियां भी प्रकाशित करके उन्होंने वहां जनता में बांटी। वहां से स्वामीजी ग्वालियर पहुंचे। वहां महाराज जियाजीराव सिंधिया से उनकी भेंट हुई। वहां भी उनका कई पंडितों से शास्त्रार्थ हुआ। वहां से वह जयपुर पहुँचे और गीता व उपनिषद् का शुद्ध पाठ उन्होंने जनता को सुनाया। चैत्र मास संवत् १६२२ वि० में वह पुष्कर मेले में जा पहुँचे वहां भी उन्होंने खूब उपदेश दिये फिर वह अजमेर चले गये। अजमेर में उन्होंने अनेकों पंडितों व पादरियों को पराजित किया। वह अपना समय ज़रा भी नष्ट नहीं करते थे प्रत्येक क्षण को वह अमूल्य समझ कर उसका सदुपयोग करते थे। वह सच्चे कर्मयोगी और आर्य जाति के सच्चे शुभचिन्तक थे। आलस्य उनके शरीर में नाम मात्र को भी नहीं था। इसका प्रमाण यही काफी है कि कितने अल्प समय में उन्होंने कितना बड़ा और कठिन काम कर दिया और कितने स्थानों में भ्रमण किया। जिस प्रकार आजकल मिनिस्ट्री के इलैकशन के दिनों में पण्डित जवाहरलाल नेहरू की दशा थी ठीक वही दशा उन दिनों स्वामी दयानन्दजी की थी। जहां स्वामीजी गये वहीं उनको विजय मिली और जगह-जगह आज यहां कल वहां वैदिक धर्म का प्रचार करते ही रहे। स्वामीजी को एक बार एक दुष्ट ने ताम्बूलपत्र में विष मिला कर दे दिया था परन्तु ब्रह्मचर्य्यके प्रभाव से उन पर उसका कुछ प्रभाव न हुआ और नेवली तथा बस्ती आदि कर्मों उन्होंने अपने प्राणों की रक्षा की।

वह पुनः हरिद्वार और रामघाट होते हुए कर्णवास राज्य में जहाँ राजपूतों का आधिपत्य था पहुँचे। वहां भी पाखण्डी पण्डितों की तूती बोल रही थी। स्वामीजी ने उन सब का खंडन किया और सैकड़ों राजपूतों को यज्ञोपवीत धारण कराये और गायत्री मन्त्र का सदुपदेश दिया। राव कर्णसिंहजी उनके उपदेशों से बहुत रुष्ट हुये और वह उन पर तलवार लेकर मारने के लिए झपटे लेकिन ब्रह्मचर्य्य के प्रताप से रावजी की तलवार टूट गई और स्वामीजी बच गये। उनके तेज से रावजी की आंखें चौंधिया गईं और वह लज्जित होकर स्वामीजी के अनुयायी होगए।

सम्वत् १९२५ वि० में स्वामीजी फर्रुखाबाद पहुँचे। वहां हलधर नामक पण्डित को उन्होंने पराजित किया और वेश्यागमन पर उपदेश देकर अनेकों नवयुवकों को सत्य का मार्ग दिखाया। इसके बाद वह कानपुर चले गये। वहां कलक्टर मिस्टर थेन जो संस्कृत का विद्वान् था उसकी मध्यस्थता में स्वामीजी का कुछ पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। वहां भी स्वामीजी की विजय हुई।

कानपुर से कई जगह होते हुये स्वामीजी काशी पहुंच गये। वहां भी उन्होंने कई पण्डितों को पराजित किया और तीन महीने तक काशीवासियों को अपने सदुपदेशामृत का पान कराकर वह कलकत्ते चले गये।

जिस प्रकार प्राचीन काल में कोई सम्राट् अश्वमेध यज्ञ के समय या दिग्विजय करने के लिये प्रयाण करता था और सबको पराजित करता हुआ अपनी जयदुन्दुभी बजाता हुआ आगे बढ़ता जाता था। ठीक इसी प्रकार स्वामीजी दयानन्दजी भी एक सम्राट की ही भांति अपनी जयदुन्दुभी बजाते हुये आगे बढ़ते जाते थे और रास्ते में सबको पराजित करते जा रहे थे।

कलकत्ते में २१ जनवरी सन् १८७३ ई० को ब्रह्मसमाज के वार्षिक अधिवेशन में स्वामी जी को बुलाया गया था। वहां भी उन्होंने उपदेश दिया। उनका भाषण ऐसा प्रभावशाली एवं सारगर्भित था कि उपस्थित जनता पर उसका काफी प्रभाव पड़ा। ब्रह्मसमाज के हजारों अनुगामी उनके शिष्य बन गये। कलकत्ते में पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से भी उनकी भेंट हुई थी। उनके साथ स्वामी जी का अच्छा सत्संग रहा क्योंकि ईश्वरचन्द्र, भी समाज सुधारक एवं प्रतिभाशाली विद्वान थे। यहां भी स्वामी जी लगभग तीन मास तक ही रहे और फिर हुगली आदि स्थानों में घूमते रहे। स्वामी जी उत्तरी भारत में काफी दौरा कर चुके थे। अब उन्होंने दक्षिण की ओर जाने का विचार किया। पाठक देखें कि केवल एक अकेला व्यक्ति कितना अथक परिश्रम कर रहा है और कितनी जल्दी सफलता पूर्वक कुशलता से अपना कार्य सम्पादन कर रहा है। यह स्वामी जी के ब्रह्मचर्य और सत्य का ही प्रताप था।

उन दिनों समाचार पत्रों में श्री स्वामी जी की चरचा खूब हुआ करती थी अतः वह काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। सम्वत १९३१ के आश्विन मास में स्वामी जी बम्बई पहुँचे। वहां उन्होंने खूब धर्मका आन्दोलन किया। और चारों ओर क्रान्ति की लहर फैलादी। वहां चैत्र सु० ५ सम्वत १९३२ को उन्होंने धर्मप्रचार के लिये एक संस्था स्थापित की जिसका नाम "आर्यसमाज" रक्खा गया। इस समाज से बहुत लाभ होने लगा और उसके सदस्य भी खूब बनने लगे। सामाजिक कुरी-तियों को दूर करना और वैदिक धर्म का प्रचार करना इस समाज का मुख्य ध्येय था। हिन्दु जाति की रक्षा इस समाज के द्वारा काफी हुई। इसके नियम, उप नियम, कार्यशैली आदि स्वयं स्वामी जी ने ही निर्धारित की।

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करके स्वामी जी फिर बड़ौदा गये और सम्वत १९३२ के आषाढ़ मास में महादेव गोविन्द रानाडे के आग्रह से पूना चले गये। रानाडे महादेव ने यहां स्वामी जी का काफी साथ दिया। यहां भी स्वामी जी को कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा यहां तक कि उनपर पत्थर कंकड़ भी बरसाये गये परन्तु उन्होंने इसकी कुछ चिन्ता न की। वह अपने विरोधियों से द्वेषभाव नहीं रखते थे चाहे वह उन्हें कितना ही सतावे। वह सदैव उनकी मंगल

कामना किया करते थे। और उन्हें सुधारने की चेष्टा में संलग्न रहते थे क्योंकि उनका प्रधान उद्देश्य ही जनता में सत्य शुद्ध सनातन वैदिक धर्म का प्रचार करना था और उसका जीर्णोद्धार करना था।

पूना के बाद वह कई देशों में होते हुये लखनऊ पहुंचे। वहां उन्होंने अंग्रेजी भाषा भी सीखी क्योंकि उन दिनों अंग्रेजी का प्रचार सर्वत्र हो रहा था। इसके बाद वह चांदपुर नामक ग्राम में पहुंचे वहां कबीर पंथी लोगों की बस्ती ज्यादा थी। ईसाई और मुसलमान वहां अपने २ धर्म का प्रचार किया करते थे। यह देख कर स्वामी जी भला कब शान्त रहते। एक दिन सब धर्मों की एक सभा की गई। दो दिन तक शास्त्रार्थ हुआ परन्तु अन्त में स्वामी जी की विजय हुई। इसाइयों और मुसलमानों की सब चेष्टायें असफल हो गई और वह गांव उनके हथकण्डों से बच गया। वहां के अधिकांश निवासी स्वामी जी के शिष्य हो गये।

इसके बाद स्वामी जी शाहजहांपुर गये। वहां के मौलवियों ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिये बुलाया था। लेकिन वह लोग स्वामी जी से ऐसे हारे कि फिर कभी उन्होंने शास्त्रार्थ करने का नाम भी न लिया। वहां भी जनता पर स्वामीजी का काफी प्रभाव पड़ा।

इसके बाद स्वामी जी ने पंजाब में धर्म प्रचार के लिये दौरा करने का विचार किया। सबसे पहले आप लुधियाना नगर में पहुँचे वहां प्रचार कार्य करने के बाद सम्वत १९३४ के वैशाख मास में वह लाहौर पहुँचे। वहां भी उन्होंने जनता के अनुरोध से अपनी विजय दुंदभी बजाते हुये आर्यसमाज की स्थापना की। यहां स्वामी जी ने आर्यसमाज के नियमों में परिवर्त्तन एवं संशोधन भी किया और वही नियम अब तक चले आते हैं।

लाहौर से विदा होकर स्वामी जी अमृतसर पहुंचे। वहां ईसाई धर्म का प्रचार हो रहा था। बहुत से हिन्दू ईसाई हो गये थे और उन्होंने एक "प्रार्थना सभा" खोल रक्खी थी जहां वे ईसाई धर्म का गुणगान किया करते थे। स्वामी जी ने उन्हें वैदिक धर्म का उपदेश दिया। जिससे प्रभावित होकर वह सब लोग पुनः हिन्दू हो गये और प्रार्थना सभा भंग होगई। स्वामी जी ने अमृतसर में भी आर्यसमाज की स्थापना की और फिर गुरुदासपुर जाकर वहां भी एक आर्यसमाज स्थापित किया।

तत्पश्चात वह जालंधर, फ़ीरोजपुर, झेलम, रावलपिंडी, गुजरात, वज़ीराबाद, गुजरानवाला, मुलतान आदि २ कई प्रमुख नगरों व राज्यों में गये और सब जगह धर्म प्रचार करके आर्यसमाज की स्थापना की।

इसके बाद स्वामी जी फिर संयुक्त प्रान्त में दौरा करने चले गये। रुड़की होते हुये वह मेरठ जा पहुंचे। वहां उनका काफी विरोध हुआ लेकिन उन्होंने धैर्य एवं साहस से सबका सामना किया और फिर अजमेर चले गये। अजमेर में ईसाइयों को हराकर जयपुर पहुँचे वहां कुछ दिन धर्म प्रचार करके हरिद्वार चल दिये। वहां दो मास तक स्वामी जी प्रचार कार्य करते रहे। उन्हीं दिनों कर्नल अलकाट और मेडम ब्लेवस्तकी स्वामी जी से मिलने के लिये अमेरिका से आये हुये थे। सहारनपुर में स्वामी जी की उनसे भेंट हुई। वे दोनों स्वामी जी के शिष्य हो गये और बम्बई चले गये।

सम्वत् १९३६ के भाद्रपद मास में स्वामीजी बरेली पहुँचे। वहाँ भी ईसाई व मुसलमान लोगों को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित किया और जनता में वैदिकधर्म का प्रचार किया। वहीं महात्मा मुन्शीरामजी से उनकी भेंट हुई। वह भी स्वामीजी के अनुयायी होगये। इसके बाद वह फिर काशी चले गये। यह

उनका काशी में सप्तम बार प्रवेश था । इस बार कोई उनसे शास्त्रार्थ करने नहीं आया। यहाँ से जाने के बाद वह मेरठ, देहरादून, सहारनपुर तथा आगरा आदि स्थानों में भ्रमण करत हुए राजस्थान में धर्मप्रचार कार्य के लिये रवाना हुये ।

सबसे पहले वह सम्वत् १९३७ के फाल्गुन मास में भरतपुर पहुँचे। वहाँ कई दिनों तक प्रचार कार्य करने के बाद स्वामीजी आगे बढ़े। अजमेर में लेखरामजी उनसे मिले। लेखरामजी उस समय बालक ही थे किन्तु बड़े प्रतिभाशाली थे। स्वामीजी उनसे मिलकर बहुत खुश हुये। उन्होंने लेखरामजी को विविध भाँति के उपदेश दिये और ब्रह्मचर्य्य पर अधिक जोर दिया। इसके बाद स्वामीजी मसूदा राज्य में पहुँचे। वहाँ सिद्धकरण नामक जैन साधु से उनका शास्त्रार्थ हुआ। यहाँ भी स्वामीजी की विजय हुई और कई जैनी स्वामीजी के अनुयायी होगये।

मसूदा से जाने के बाद स्वामीजी चित्तौड़ राज्य में पहुँचे। वहाँ राणा सज्जनसिंह ने उनका खूब सत्कार किया। विदा होते समय राणा ने उन्हें वेदभाष्य के प्रकाशनार्थ बहुत सी भेंट भी दी। राणा श्रद्धापूर्वक नित्य स्वामीजी का उपदेश सुनते थे। वहाँ से स्वामीजी उदयपुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक "परोपकारिणी सभा" स्थापित की और अपनी सारी सम्पत्ति उसमें लगादी। वहाँ से वह शाहपुरा चले गये। वहाँ के महाराज ने भी उनका यथोचित सत्कार किया। वहाँ भी उन्होंने कई दिन तक उपदेश दिया।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी जोधपुर चले गये। वहाँ के महाराजा ने भी उनका यथोचित स्वागत सत्कार किया और उनके ठहरने वगैरा का काफी अच्छा प्रबन्ध कर दिया गया। उनकी रक्षा के लिये भी समुचित व्यवस्था करदी गई थी क्योंकि उनके

प्राण हमेशा खतरे में रहते थे और खास कर जोधपुर इसकी विशेष आशंका थी।

स्वामीजी ने सत्रह दिन तक उपदेश दिये और प्रचार कार्य किया लेकिन जोधपुर नरेश से उनको भेंट न हुई। न तो स्वामी जी ही मिलने गये न महाराज ही आये। आखिर स्वयम महाराज साहब ही बहुत सी भेंट लेकर पधारे। महाराज यशवंतसिंहजी जोधपुर नरेश तीन बार स्वामीजी से मिलने को आये और फिर उन्होंने उनको अपने महलों में निमंत्रित किया। स्वामीजी कई बार महाराजा के महलों में गये और उन्होंने उनको विविध उपदेश दिये।

एक दिन जब स्वामीजी जोधपुर नरेश के भवन में गये तो उन्होंने वहाँ "नन्हीं जान" नामक तवायफ (वेश्या) को उपस्थित देखा। वह भी उस समय आई ही थी। महाराज ने स्वामी जी को आते देखकर नन्ही जान को विदा कर दिया और कहारों से कह दिया कि पालकी में बिठाकर ले जाओ। स्वामीजी ने वेश्या को जाते हुये देख लिया। स्वामीजी को क्रोध आगया और वह आवेश में कहने लगे—

"जब सिंहों की कन्दरा में कुतिया का प्रवेश होता हो तो भला फिर कुत्ते उत्पन्न क्यों न हों"

विचारशील महाराजा पर स्वामीजी के इस कथन का बड़ा प्रभाव पड़ा। और वेश्या का भी मान कम होने लगा। वेश्या को स्वामीजी के शब्द भलीभाँति याद थे। उसके हृदय में ईर्ष्या की अग्नि जलने लगी और वह बदला लेने का उपाय सोचने लगी। उसने जगन्नाथ नामक रसोइये को रुपये का लालच देकर अपनी ओर मिला लिया उसने लालच में आकर आश्विन वदि १४ सम्वत् १६४० वि० को रात के वक्त स्वामीजी को दूध में काँच मिलाकर पिला दिया। स्वामीजी के पेट में फौरन ही वेदना उत्पन्न होगई। बहुत कुछ इलाज किया गया परन्तु सब व्यर्थ। वास्तव में स्वामीजी का अंतिम समय ही आ पहुँचा था। काल के समक्ष किसी का क्या वश ? लेकिन फिर भी ब्रह्मचर्य के प्रताप से उनके मुख पर वेदना का कोई भी चिन्ह दिखाई नहीं देता था। वह उस समय भी प्रसन्न थे। किसी न किसी प्रकार जगन्नाथ का दोष प्रकट होगया। वह स्वामीजी के पैरों पर जाकर गिर पड़ा। स्वामीजी ने उसे अभयदान देते हुये कहा—"जो होगया सो

होगया उसके लिये दुख करना व्यर्थ है। तुम अपने प्राणों की रक्षा करने के लिये फौरन यहाँ से भाग कर निकल जाओ और नैपाल की तलहटी में जाकर रहो वरना महाराज तुम्हें प्राणदण्ड दिये बिना नहीं रहेंगे।" पाठकों देखिये ! कैसा अनुपम आदर्श !

स्वामीजी के शरीर को औषधियों ने निकम्मा बना दिया। वह निर्बल होगये। वह वहाँ से आबू पहाड़ ले जाये गये फिर अजमेर में भी डाक्टर लक्ष्मणदास ने उनका इलाज किया लेकिन कुछ फायदा नहीं हुआ। अन्त में कार्तिक अमावस्या सम्वत् १६४० वि० मंगलवार को शाम के ६ बजे स्वामीजी ने इस असार संसार को त्याग दिया। आर्यजाति का नर रत्न सदा के लिये खोगया। स्वामीजी के देहान्त का समाचार बिजली की तरह सारे देश में फैल गया। जो सुनता था वही आँसू बहाता था।

निःसंदेह स्वामीजी सच्चे साधु थे सच्चे सन्यासी थे सच्चे कर्मवीर, साहसी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, एवं आर्य जाति के प्राणाधार थे। यदि ऐसे समय में इनका अवतार न हुआ होता तो आर्य जाति का बहुत नुकसान होता। सत्य सनातन वैदिक धर्म का पूर्णतया पतन हो जाता और हिन्दू लोग संसार में नाम मात्र को ही रह जाते। स्वामीजी क्रान्तिकारी एवं युगान्तरकारी थे। वह सच्चे अर्थों में ऋषि थे, इसी लिये वह महर्षि दयानन्द सरस्वती" कहलाते हैं। वह परोपकारी थे, परमार्थी थे, विद्या के सागर थे। इतना होने पर भी अभिमान उनको छू तक नहीं गया था। प्रत्येक व्यक्ति से चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो वह बड़े प्रेम से मिलते थे।

सबसे बड़ी बात उनका अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत था। उनके ब्रह्मचर्य तेज के समक्ष बड़े बड़े पहलवान भी सिर नीचा कर

लेते थे। जंगलों पहाड़ों में घूमते हुये कई बार उन्हें जंगली जानवरों का सामना करना पड़ा परन्तु उनका बाल भी बांका न हुआ। भयंकर शेर भी पालतू कुत्ते की तरह उनके चरणों में लोटने लगते थे। इतना अथक परिश्रम करना और ऐसी निर्भीकता व साहस से सर्वत्र हर समय भ्रमण करते रहना उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का ज्वलन्त प्रमाण है।

उनकी तर्क शक्ति कैसी तीव्र थी यह तो इसी से स्पष्ट है कि वह कहीं भी तर्क में पराजित न हुये और न भाषण देते देते वह थकते ही थे। व्याख्यान देने की शक्ति भी उनकी बहुत तेज थी। उनकी वाणी में ओज और प्रभाव था जिससे प्रत्येक प्रभावित हो जाता था। यही हाल उनकी लेखनशैली का भी था। वह "हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान" के पूर्ण समर्थक थे। स्वामीजी के द्वारा देश जाति एवं धर्म का जो उपकार हुआ उसे कोई भी आर्यमात्र कभी नहीं भूल सकता। आर्यसमाज के जो नियम उन्होंने बनाये हैं और जो आजतक प्रचलित हैं प्राय सभी वैदिक धर्मावलम्बी उनसे परिचित हैं। उनमें धार्मिकता, सामाजिकता की कैसी दृढ़ता है इस बात को सभी जानते हैं। उन्हीं के प्रयत्न से "आर्यसमाज" की स्थापना भारतवर्ष के कोने कोने में हो गई। न केवल हमारे देश में ही प्रत्युत विदेशों में भी कई जगह आर्यसमाज स्थापित है और यथासाध्य अपने उद्देश्य की पूर्ति करता रहता है। स्वामीजी ने वास्तव में आर्यसमाज खोल कर हिन्दुओं में जागृति पैदा करदी और सोती हुई आर्य जाति प्रमाद छोड़कर जाग उठी। चारो ओर क्रान्ति फैल गई। स्वामीजी ने अपना अलग कोई धर्म नहीं चलाया और न अपना कोई पन्थ यामत ही प्रचलित किया। उन्होंने तो सनातन वैदिक धर्म का ही जीर्णोद्धार किया। गिरी हुई जाति को उन्होंने उठा लिया। अर्थात हिन्दुओं की डूबती हुई नैया को उन्होंने बचा

लिया। गीता के "यदा यदा हि धर्मस्य........" के सिद्धान्त के अनुसार हम स्वामीजी को उन महान विभूतियों की श्रेणी में रख सकते हैं जिसमें भगवान शंकराचार्य आदि हैं जिन्होंने हिन्दु जाति और सत्य सनातन वैदिक धर्म का नष्ट होने से बचाया और जिन्होंने धर्म रक्षार्थ ही देश में अवतार लिया।

स्वामीजी के विचारों में धार्मिकता एवं सामाजिकता तो थी ही किन्तु राष्ट्रीयता भी कूट कूट कर भरी हुई थी यह मानना ही पड़ेगा कि देश अथवा राष्ट्र में सर्व प्रथम (इस आधुनिक युग में) क्रान्ति उन्होंने ही फैलाई और राष्ट्र उत्थान कार्य में वह काफी सहायक हुये। समाज में क्रान्ति उत्पन्न होने से राष्ट्र में भी स्वतः क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अस्तु—

स्वामीजी राष्ट्र, समाज एवं धर्म के सच्चे अर्थों में उद्धारक थे। भारतवर्ष में ऐसे ही ब्रह्मचारी आर्य नर रत्न की आवश्यकता है जो सच्चे अर्थों में सच्चे कर्मयोगी सिद्ध हो सकें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः